कमलेश्वर

आँखों देखा पाकिस्तान

आज के पाकिस्तान का सजीव चित्रण

“मेरी यह किताब साहित्य और पत्रकारिता के मिले-जुले सरोकारों की किताब है। सोचता हूं तो बराबर यही लगता है कि लेखक के पास उसकी सोच का भी एक दिल होता है… एक बहुत मज़बूत और सरोकारों से भरा हुआ बेहद नाज़ुक दिल, जो हर ग़ैर-इंसानी बात पर तिलमिलाता, घबराता और परेशान होता रहता है।

साथ ही उसके पास अपनी सभ्यता, संस्कृति और स्मृति की विरासत भी होती है...

इन्ही तमाम बातों और सरोकारों का नतीजा है-यह किताब, जो अब पाठकों को समर्पित है!”

आँखों देखा पाकिस्तान

(एक छोटा-सा सफ़रनामा)

कमलेश्वर

राजपाल

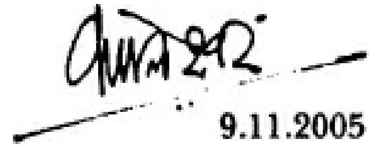
ISBN: 9788170286417
संस्करण : 2015
AANKHON DEKHA PAKISTAN by Kamleshwar

राजपाल एण्ड सन्ज़
1590, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट-दिल्ली-110006
फोनः 011-23869812, 23865483, फैक्सः 011-23867791
website : www.rajpalpublishing.com
e-mail : sales@rajpalpublishing.com

“मेरी यह किताब साहित्य और पत्रकारिता के मिले-जुले सरोकारों की किताब है। सोचता हूं तो बराबर यही लगता है कि लेखक के पास उसकी सोच का भी एक दिल होता है... एक बहुत मज़बूत और सरोकारों से भरा हुआ बेहद नाज़ुक दिल, जो हर गैर-इंसानी बात पर तिलमिलाता, घबराता और परेशान होता रहता है।

साथ ही उसके पास अपनी सभ्यता, संस्कृति और स्मृति की विरासत भी होती है.

इन्हीं तमाम बातों और सरोकारों का नतीजा है-यह किताब, जो अब पाठकों को समर्पित है!’



9.11.2005

अनुक्रम

वाघा बार्डर के उस पार

यह हम लेखकों के लिए भावनाओं और रोमांच से भरा सफर था, दिल्ली से लाहौर तक का। मौका था सार्क देशों के लेखकों का लाहौर में तीन दिवसीय आयोजन। सार्क के सात देशों के लेखकों-कवियों का दसवाँ सम्मिलन, जो पाकिस्तान की सांस्कृतिक राजधानी लाहौर में पहली बार हो रहा था। वैसे पिछले नौ सम्मेलनों में पाकिस्तानी प्रतिनिधि लगातार शामिल हुए थे लेकिन भारत-पाक के बीच फैली राजनीतिक खटास और जहरीले माहौल के कारण पाकिस्तानी लेखक-शायर भारत की सरजमीं से होकर नहीं गुज़र पाते थे, क्योंकि हवाई, रेल और बस सेवाएँ राजनीतिक विद्वेष और दुश्मनी के कारण बन्द थीं। पिछला जो लेखक सम्मेलन मालदीव में हुआ था, उसमें शामिल होने के लिए पाकिस्तानी प्रतिनिधि मंडल को दुबई होकर आना पड़ा था। उस साल भी जब भारत-पाकिस्तान राजनीतिक रूप से एक दूसरे के घनघोर शत्रु थे, भारत की दस लाख सेना युद्ध के लिए तैयार और तत्पर सरहद पर तैनात थी, तब भी भारत और पाकिस्तानी लेखकों के पास भावनाओं और भाई-चारे का भंडार था। लगता ही नहीं था कि हम दो दुश्मन देशों के लेखक आमने-सामने मौजूद हैं। यह भावनाएँ राष्ट्र और देशों की सरहदें स्वीकार नहीं करतीं।

लाहौर में आयोजित इस दसवें लेखक सम्मेलन का आयोजन अकादमी ऑफ फाइन आर्टस एण्ड लिटरेचर की ही आधिकारिक संस्था फाउण्डेशन आफ सार्क राइटर्स ने किया था, जिसके पीछे पंजाबी-हिन्दी की जुनूनी लेखिका अजीत कौर की लगन, भावनाएँ और दिमाग़ लगातार काम कर रहा है। यह लेखिका दक्षिण एशिया में भाईचारे, शान्ति और सद्भावना के लिए पिछले सत्ताइस वर्षों से सूफी दरवेश की तरह सिर्फ अपने चरम लक्ष्य के लिए पागल हो चुकी है और घर फूँक तमाशा देख रही है। इसे कहीं से पैसा नहीं मिलता तो यह अपनी बेटी विश्व प्रसिद्ध पेण्टर अर्पणा कौर की कलाकृतियों से आया पैसा इस साहित्यिक-सांस्कृतिक अभियान में झोंकती रहती है, लेकिन साहित्यिक सेतु बनाने से बाज़ नहीं आती। तो छह देशों-नेपाल, भूटान, बांग्लादेश, श्रीलंका, मालदीव और भारत के लेखक दिल्ली में जमा हुए और सातवें सदस्य देश पाकिस्तान के सफर पर चले पड़े।

और यह इत्तफाक ही था कि लगभग पन्द्रह वर्षों बाद 10 मार्च को भारत की क्रिकेट टीम पाकिस्तान दौरे पर गई थी और हम लेखकों का जत्था 11 मार्च को पाकिस्तान के लिए रवाना हुआ। वे हवाई रास्ते से गए थे, हम पैदली रास्ते से जा रहे थे। क्रिकेट टीम की

सुरक्षा के लिए उच्च स्तरीय व्यवस्था की जरूरत थी क्योंकि दोनों देशों के युद्ध उन्मादी संगठनों ने खतरों से भरे हालात पैदा कर रखे थे। नहीं तो क्रिकेट टीम के लिए हार-जीत का खतरा तो था पर जान-जोखिम का कोई मसला नहीं था। यह था तो सिर्फ राजनीतिक करतूतों और झूठे अहंकार के कारण, मानव-विरोधी रुख अपनाने वाले क्षुद्र नेताओं की वजह से। हम लेखकों को कोई खतरा नहीं था, क्योंकि हमारे पास नानक, बुल्ले शाह और वारिस शाह के वह शब्द थे, जिनके हम वारिस हैं!

तो वाघा बार्डर से गुजरनेवाला हमारा पैदली सफर शुरू हुआ। नई दिल्ली से अमृतसर के लिए हम सब लेखक शताब्दी से रवाना हुए। पानीपत, कुरुक्षेत्र, अम्बाला और लुधियाना क्रास किया। अम्बाला पहुँचने से पहले ट्रेन-परिचारिका ने बताया कि यह शहर भारतीय सेना और वायुसेना की बहुत बड़ी छावनी है। दिल को धक्का-सा लगा कि क्या अम्बाला की और कोई पहचान नहीं? खैर... इस झटके के बाद लुधियाना और फगवाड़ा क्रॉस करते ही सतलज नदी की धार दिखी और मन इतिहास और भूगोल की ओर मुड़ गया। साथ बैठे थे हिन्दी और पंजाबी के प्रखर युवा लेखक बलबीर माधोपुरी। वे पंजाब में रचे-बसे हैं। तरह-तरह की गहरी सांस्कृतिक स्मृतियों में वे डूबे हुए थे। जालंधर से गुजर कर ट्रेन अमृतसर की ओर बढ़ी और हमने व्यास दरिया पार किया तो बलबीर ने कहा- शायद लाहौर जाते रावी दरिया भी दिखाई दे जाए... रावी का नाम आते ही तमाम ऐतिहासिक स्मृतियां कौंधने लगीं। भगतसिंह, भगवतीचरण, चन्द्रशेखर, यशपाल जैसे क्रान्तिकारियों की यादें और रावी किनारे ली गयी पं. नेहरू की सम्पूर्ण स्वराज की शपथ... और सैकड़ों यादें।

पंजाब के खेतों में कोई पंजाबी या सरदार किसान काम करता नहीं दिखाई दिया। पूछा तो बलवीर माधोपुरी ने तफसील से बताया कि इस उपजाऊ इलाके को व्यास नदी ही सींचती रही है, लेकिन अब धरती का जलस्तर बहुत गिर गया है। पहले 10-12 फुट पर पानी मिल जाता था। अब 40-50 फुट पर। यह तो हमारी हरित क्रान्ति का अग्रदूत और अन्न का गोदाम था। यहाँ आई खुशहाली ने पंजाबी किसान को बहुत एय्याश और आराम तलब बना दिया है... अब वे लस्सी नहीं, रम पीते हैं और ट्रैक्टर लेकर मौज मस्ती के लिए शहरों में जाते हैं। और मक्की दी रोटी और सरसों द साग नहीं मुर्गे-शुर्ग खाते हैं। उनके खेतों पर बिहार और यू. पी. का मजदूर काम करता है। वह सरदार हो गया है, वह वाहे गुरु को मानता और गुरुवानी सुनता है, उसके बच्चे पंजाबी पढ़ते हैं, पर पंजाबी-सरदारों के बच्चे अंग्रेजी पढ़ते हैं... वे जमीन के मालिक जरूर हैं पर किसानी नहीं करते, इसलिए अब पंजाब की उपज लगातार गिर रही है!

आखिर हम अमृतसर में दोपहर का खाना खाकर, सीमा पर बसा आखिरी गाँव अटारी पार करके वाघा बार्डर पर पहुँचते हैं। मजदूरों की फौज मौजूद है। वह सरों पर सारा सामान उठा लेते हैं और हम भारतीय कस्टम पार करके पाकिस्तान की सीमा वाले हिस्से में दाखिल होते हैं। उसी तरह पाकिस्तानी मजदूरों की फौज। सामान की अदला बदली होती है... मजदूरों की वही गरीब जमात। दोनों सामान की अदला-बदली करते हैं। तो भारत का जवान मजदूर पाकिस्तान के बूढ़े मजदूर को हलका सामान थमाता है। तब दिल पूछता है, कहाँ है बँटवारे की वह रैडक्लिफ लाइन जो हम दोनों को अलग करती है?

मजदूरों के दिलों पर तो कोई लाइन नहीं है। वे चाहे इधर हों या उधर, वे अपनी गरीबी और बड़े-बूढ़ों को पहचानते हैं... हम पाकिस्तानी कस्टम से गुजरते हैं। करेंसी कदलते हैं। सौ रुपये के एक सौ पच्चीस पाकिस्तानी रुपये। वही पानी, वही पसीना, वही हवा और आसमान, वही घास और पेड़। सीमा के दोनों ओर से बिना पासपोर्ट और बीसा के आती-जाती चिड़ियां और भावनाओं का खामोश सैलाब। कहाँ थी सरहदें!

और उस पार खड़े पाकिस्तानी दोस्त-लेखकों का उमड़ता हुआ जज्बाती सैलाब। हमारा इन्तजार करती किश्वर नाहीद, इन्तजार हुसैन, मुन्नू भाई, कुछ नौजवान लेखक और पत्रकार। गुलाब के फूलों की मालाएँ और गेंदों के फूलों की बारिश। ढोल-ताशों का वही स्वर... शान्ति के लिए सरहद पर छोड़े गए कपोत! कौन किस तरफ उड़ गया, पता ही नहीं चला। पर वे अपने पंखों के साथ शब्द की तरह आजाद थे।

लेखक सम्मेलन में बहुत जरूरी बातें हुई। उन्हें विस्तार से बाद में लिखूंगा। सिर्फ यहाँ दो उद्धरण देना काफी होगा। मैं 86 वर्षीय अहमद नदीम कासिमी साहब से उनकी पत्रिका 'फनून' के कार्यालय में मिला। वे पिछले दिन ही अस्पताल से वापस आए थे। उनके कार्यालय में गालिब, जिन्ना साहब और इकबाल की तस्वीरें लगी थीं। वे बोले-मजहब जो कर सकता था, उसने कर दिखाया, अब मजहबी पहचान से ज्यादा इंसानी पहचान की जरूरत है, जो अदब हमेशा से पैदा करता रहा है। और मुन्नू भाई ने आखिरी शाम मज़ाक में कहा-हमारे यहाँ तो बस छावनी कल्चर बची है और फौजी ब्यूरोक्रेसी। यह अंग्रेजों की देन है। पाकिस्तानी फौज चार बार पाकिस्तान को जीत चुकी है... पर वो बुल्लेशाह, वारिसशाह और नानक के खानदानों को नहीं जीत पाई है... अपने सियासी हिन्दू हुक्मरानों से कहिएगा कि वे यह गलती न करें। वे तुलसीदास, मीराबाई, रसखान और अमीर खुसरों के खानदान को नहीं जीत पाएँगे!... और यह आकस्मिक नहीं था कि लाहौर क्रिकेट मैच में राष्ट्रपति मुशर्रफ के साथ जिन्ना साहब के भारतीय वंशज नुसली वाडिया बैठे हुए थे और हमारे लेखक सम्मेलन में इकबाल के बेटे जावेद इकबाल शामिल थे।

जिये पाकिस्तान

तो हम 11 मार्च, 2004 की शाम को लाहौर पहुँच गए।
वाघा बॉर्डर के रास्ते सारे भारतीय व अन्य लेखक नहीं आए थे। अधिकांश हवाई रास्ते से आनेवाले थे। हम कुछ लोगों ने यही रास्ता चुना था। हमारा जत्था पंद्रह-बीस लेखकों का था जिसमें हिंदी, उर्दू, पंजाबी और अंग्रेजी के मिले-जुले लेखक थे। हमारे जत्थे में नामवर सिंह, कुंवर नारायण, अशोक वाजपेयी, शमीम हनफी, बलबीर माधोपुरी आदि थे। वाघा बॉर्डर से आधे घण्टे में हम लाहौर पहुँच गए। होटल सनफोर्ट, गुलबर्ग में हमें ठहराया गया। वहाँ भी ढोल-ताशे से स्वागत किया गया। कमरा नम्बर 127 में, मैं और कुँवर नारायण एक साथ ठहरे। होटल साफ-सुथरा आरामदेह था।

पाकिस्तान को कई बार कई तरह से याद करना पड़ता है, क्योंकि एक बार के अनुभव आपको इस मुल्क की आत्मा तक नहीं पहुँचा सकते। मैं पिछली यात्राएँ याद करूं तो पाकिस्तान एक रुका हुआ पर बहुत तेजी से भागता हुआ देश है। सन् साठ-सत्तर-अस्सी के पाकिस्तान को याद करता हूँ तो सन् साठ का पाकिस्तान हर उस चीज से मुक्त होना चाहता था जो उसे भारत या पूरब से जोड़ती हो। वह अपने इतिहास से आजाद होना चाहता था। हालाँकि तब भी पाकिस्तान में बहुत कठमुल्ले किस्म के मुसलमान नहीं थे, पर वह अपनी इस्लामी पहचान को वह स्थापित करना चाहता था। भारत विभाजन के बाद जो मुसलमान पाकिस्तान पहुँचे थे, वे वहाँ के स्थानीय मुसलमानों से खुद को बेहतर मुसलमान मानते थे। इसका एक कारण शायद यह भी था कि इस्लामी सोच और उसके उसूलों को तय करने वाले दो आध्यात्मिक केन्द्र-देवबन्द और बरेली भारत में छूट गए थे। ऐसा कोई केन्द्र पाकिस्तान में नहीं था। मुलतान यदि था तो वह सूफी सोच का केन्द्र था, जिसे कट्टर मुसलमान मंजूर नहीं करता। अपनी खास इस्लामी पहचान के लिए जरूरी था कि पाकिस्तान पश्चिम एशिया की तरफ देखना शुरू करे यानी अरब और इस्लामी देशों की ओर। वैसे भी उस दौर का पाकिस्तान खुद को इस्लाम का ज्यादा विशुद्ध देश और अन्य देशों से बड़ा मजहबी पैरोकार मानता था।

भारत से पाकिस्तान गए मुसलमान उन भारतीय मुसलमानों को भी कमतर मुसलमान मानते थे, जो यहीं रह गए थे। वैसे तो पाकिस्तानी सामंती समाज रुका हुआ समाज था जो बदलने से इनकार करता था, पर अपनी पहचान के लिए वह बुरी तरह तरस

रहा था और उसे स्थापित करने में वह बेहद जल्दबाजी में था। इसीलिए पहचान की स्थापना के उस दौर में पाकिस्तान ने कुछ अजीब ही पहचान स्थापित की। उसने पाकिस्तान को कुछ ऐसी ग़लत और आसान पहचान दी कि 'पाकिस्तानी वह है जो हिन्दुस्तानी नहीं है।' इस कारनामे को पाकिस्तान के लेखकों-कवियों ने नहीं, वहाँ उभरे नए राजनीतिक बुद्धिजीवी वर्ग ने अंजाम दिया। तो खैर... पाकिस्तान के लेखकों ने हमेशा मूल्य-केंद्रित सवालों को उठाया है, वे अपनी पहचान को लेकर भी परेशान या चिन्तित नहीं रहे हैं। वैसे वहाँ के आम आदमी को अगर देखें और उससे भारत के बारे में कुछ जानना चाहें तो वहाँ का साधारण जन दो ही बातें जानता है। एक तो कश्मीर और दूसरा हिन्दू। वह मानकर चलता है कि पार्टीशन हिन्दुओं की वजह से हुआ और कश्मीर को भारत के हिन्दुओं ने जबरदस्ती दबा रखा है। उन्हें नहीं मालूम कि भारत में मुसलमान भी रहते हैं और उनकी संख्या उनके अपने देश की जनसंख्या से ज्यादा है। उनके लिए हिन्दू एक रहस्य है। मुझे देखकर लाहौर के एक खच्चरवाले ने तीन बार पूछा-आप हिन्दू हो? क्या बाकी हिन्दू भी ऐसे होते हैं?

जो लोग भारत से वहाँ गए हैं, वे हिन्दू को जानते-पहचानते हैं पर ब्राह्मण फोबिया से बुरी तरह ग्रस्त हैं। उनके लिए हिन्दू का मतलब है ब्राह्मण या बनिया। उनकी नजर में यह दोनों ही बड़े कमीने लोग हैं। चालाक भी और बदमाश भी। असल में काफी हद तक यह पाकिस्तानी पाठ्यक्रम का दोष है। वहाँ भारत और हिन्दू सिक्खों के बारे में जो पढ़ाया जाता है वह बहुत ही विषैली जानकारियाँ पैदा करता है और उससे भी ज्यादा गंदा दिमागी माहौल बनाता है। जो अधकचरे विद्यार्थी निकलते या छोटे दर्जे पास करके आते हैं, उनके दिमाग पाठ्यक्रम की गलत जानकारियों से भरे रहते हैं। यह दोष उस आम नौजवान पाकिस्तानी आदमी का नहीं, यह दोष उस सिस्टम का है जो भारत विरोधी प्रचार पर पाला गया है। इसमें मुख्य भूमिका पाकिस्तानी फौज की है जिसने बार-बार नागरिक सत्ता हड़प कर, उसके तानाशाह जनरलों ने खुदा को और अपने फौजी एस्टेबलिशमेंट को सत्ता में टिके रहने और आराम-ऐयाशी की जिन्दगी गुजारने के औचित्य को वैध बनाने और खुद को जरूरी साबित करने के लिए भारत विरोधी और नफरत की भट्टियाँ गरम कर रखी हैं।

पाकिस्तान के लेखकों और कुछ महत्वपूर्ण पत्रकारों ने इस फौजी जहनियत और पढ़ाए जानेवाले पाठ्यक्रम का हमेशा खुला और पुरजोर विरोध किया है, पर उनकी आवाज तब कारगर नहीं हो सकी। एक प्रसंग यहाँ याद आता है। अपने मशहूर शायर शहरयार साहब के छोटे भाई और उनका परिवार पाकिस्तान चला गया है। वह परिवार कराची में रहता है। अपने शहरयार साहब काफी बरसों के बाद छोटे भाई और बाल-बच्चों से मिलने कराची गए, तो करीब दस साल के भतीजे ने उनसे पूछा था कि आप हिन्दुस्तान में पाजामा-कुर्ता और शेरवानी पहन सकते हैं? क्या आप वहाँ नमाज पढ़ सकते हैं? भारत के बारे में जानकारियों का यह स्तर था, एक अपर-मिडिल क्लास में परवरिश पा रहे बच्चे का! शहरयार साहब उसके ऐसे सवालों से बहुत दुःखी हुए थे पर जानते थे कि इन्हें बताओ भी तो कोई कितना बताएगा, कितना और कब तक समझाएगा? तो यह और ऐसा भारत विरोधी सिस्टम पाकिस्तान में तीन-चार पीढ़ियों तक हावी रहा है।

वैसे पढ़ा-लिखा पाकिस्तानी इस हिन्दू-विरोधी और भारत विरोधी प्रचार से ग्रस्त नहीं है, वह बहुत खुले दिलो-दिमाग का मालिक है, पर सन् 1992 में अयोध्या की बाबरी मस्जिद को ढहाने के साथ-साथ भारत में जो हिन्दुत्ववाद की लहर चली और बोलबाला हुआ है, उससे पाकिस्तान का पढ़ा-लिखा वर्ग चिन्तित रहा है। गुजरात में मुसलमानों के नरसंहार के बाद तो पाकिस्तानी का मूड बहुत उखड़ा हुआ है। हालाँकि वे जानते और मानते हैं कि यह घोर अमानवीय कृत्य गुजरात के हिन्दुत्ववादी मुख्यमन्त्री नरेंद्र मोदी ने करवाया है, और वे इसे लेकर बहुत असहज हैं। हालांकि पाकिस्तानी पढ़े-लिखे तबके का भरोसा भारत के सेकुलर हिन्दुओं पर है, और वे जानते हैं कि भारत का सेकुलर हिन्दू इन तास्सुबी हिन्दुत्वादियों से लगातार लोहा ले रहा है, पर गुजरात के मुसलमानों के नरसंहार को लेकर उसका मन बेहद शंकित और उदास हो जाता है। वह निश्चय ही इसे उसी ब्राह्मण हिन्दू का कारनामा मानता है, जो उसकी निगाह में विभाजन का असली जिम्मेदार है क्योंकि उनके ख्याल से उन्हीं ब्राहमण हिन्दुओं ने भारत के मुसलमानों को नीचा और हेय मानकर बँटवारे के हालात पैदा किए थे।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो भारत के सेकुलर चरित्र को मात्र दिखावा या मुखौटा मानते हैं हालाँकि वे खुद को लगातार 'बेहतर पाकिस्तानी मुसलमान' साबित करना चाहते हैं पर भारत से यह तवक्क़ो रखते हैं कि वह सेकुलर बना रहे और उसे सेकुलर ही होना चाहिए। उन्हें लगता है कि उन्हें सेकुलर होने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि पाकिस्तान में रहते हुए उन्हें इस सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। पाकिस्तान असेम्बली (संसद) के एक सदस्य हैं-जनाब मन्नू भंडारा। वे पारसी हैं पर सारे व्यावहारिक कारणों से उन्हें हिन्दू ही माना जाता है। उनकी बुएरीज हैं यानी शराब और खासतौर से बीयर बनाने के कारखाने! इस्लामिक देश होने की वजह से पाकिस्तान में सख्त शराब-बन्दी है पर सच्चाई यह है कि पाकिस्तान शराब में नहाता है। हालाँकि हमसे कहा गया कि मैं पाकिस्तान में शराब का परमिट बनवा लैं क्योंकि हिन्दुस्तानी के लिए शराब पर पाबन्दी नहीं है, पर सच पूछिए तो लाहौर में परमिट की ज़रूरत ही नहीं पड़ी। होटल में ही हम मेहमानों के एक कमरे में शराब की पूरी सप्लाई रखी हुई थी। यह किश्वर नाहीद साहिबा का इन्तजाम था कि भारत का कोई लेखक प्यासा न रह जाए। फिर भी परमिट का सिस्टम जानने के लिए मैंने होटल सनफोर्ट में एक कारिन्दे से निवेदन किया। उसने एक फार्म लाकर दिया, जिसमें मुझे अपने पासपोर्ट के मुताबिक विदेशी होने का प्रमाण देना था। मुल्क वाले कॉलम में मैंने इण्डियन लिख दिया, तो होटलवाले ने 'गुजारिश की मैं इण्डियन-हिन्दू लिख दूँ, क्योंकि भारतीय मुसलमान के लिए भी पाकिस्तान में शराब के परमिट पर पाबंदी है। उसे मुसलमान होने का खामियाजा भुगतना पड़ता है। मैंने होटलवाले से कहा कि 'हिन्दू न लिखूं तो क्या परमिट नहीं मिलेगा? उसने कहा-जी हाँ हिन्दू या क्रिश्चियन लिखना ज़रूरी है। तो शराब को लेकर यह पाखण्ड चलता है पाकिस्तान में।

तो मन्नू भण्डारा साहब के यहाँ, वहीं लाहौर में सारे भारतीय पाकिस्तानी लेखकों की शराब की दावत थी। उसमें हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद-भाव नहीं था। तरह-तरह की शराबें मौजूद थीं, उन ब्राण्ड्स के अलावा जो मन्नू भण्डारा के कारखानों में 'सिर्फ एक्पोर्ट मार्केट के लिए बनती थीं। और तो और एक शाम तो होटल सनफोर्ट में ही एक साहब ने

हम सभी भारतीयों को दारू की दावत पर आमन्त्रित किया था। बीच-बीच में भाई अहमद फराज साहब के फोन आते थे-यहीं आ जाइए मेरे होटल में... वहाँ तो कच्ची ही होगी, यहाँ स्कॉच है।

मन्नू भण्डारा के यहाँ ही बातचीत के दौरान पता चला कि कराची-सिन्ध में काफी हिन्दू हैं और बेखटके रहते हैं। वह पार्टीशन के दिनोंवाला गैर-इंसानी-मजहबी जुनून अब नहीं है। वे अपने घरों में हिन्दू हैं, पूजा-पाठ करते हैं, अगर पार्टीशन के वक्त ढहाए जाने से बच गए हैं तो वे उन मन्दिरों में भी जाते हैं और जैसा कि जिन्ना साहब ने पाकिस्तान बनने के वक्त कहा था, अपने मजहब को कोई भी मानता रहे, पर सिविक लाइफ में पाकिस्तानी है, तो घर में सिन्धी हिन्दू भी हिन्दू है पर बाहर वह पाकिस्तानी है! नामों में ज़रूर फर्क आया है। यहाँ हिन्दुओं के नाम न्यूट्रल से हो गए हैं, जैसे क्रिकेट प्लेयर कनेरिया हिन्दू है, उसका नाम दानिश वहाँ की कल्चर से मेल खाता है। नहीं तो उसका नाम दिनेश कनेरिया भी हो सकता था।

इस मसले पर वहीं की पाकिस्तानी दोस्त ने टिप्पणी की कि जैसा कि आजकल आपके मुल्क के हिन्दुत्ववादी चाह रहे हैं, वे हिन्दू कल्चर के रंग में सबको रंग देना चाहते हैं कुछ वैसा ही जुनूनी दौर पार्टीशन के वक्त यहीं चला था... मुश्किल यह थी कि कल्चर के दबाव में आदमी और उसके कुनबे के नाम तो बदले जा सकते थे, वह तो हुआ, पर नीम, पीपल, आम वगैरह पर कल्चर का असर नहीं पड़ा, वे नाम वैसे ही हैं। यहाँ तक कि ईसाइयों को, जिनके रिश्ते मुसलमानों से बहुत नजदीकी थे, ताजा इस्लाम के झोंकों में उन्हें भी जोसेफ से यूसुफ बनना पड़ा।

कश्मीर को लेकर तो अच्छे-से-अच्छा पढ़ा-लिखा पाकिस्तानी भी भारत और भारत के नेताओं और चालाक ब्राहमणों से बहुत नाराज है। वे यह भी मानते हैं कि इसकी वजह से पाकिस्तान के फंडामेण्टलिस्टों-जेहादियों को शह मिल गई है। बाबरी मस्जिद विध्वंस और गुजरात में मुस्लिम नर-संहार के बाद वहाँ के समझदार तबकों को खामोश होना पड़ा है। वैसे एक महीन बात मैं यहाँ ज़रूर दर्ज कर देना चाहूँगा कि सरकार में बैठा छोटा और बड़ा बाबू तब मन ही मन खुश होता है जब भारत से हिन्दू-मुसलमान दंगों की खबरें वहाँ पहुँचती हैं। सही बात यह है कि आम आदमी तो नहीं, लेकिन वह फौजी, जो फौज की वर्दी उतारकर सिविल पोशाक में आ चुका है और सरकारी महकमे चलाता है, वह हर उस बात को महत्वपूर्ण समझता, बताता और मानता है जो पाकिस्तान के निर्माण को तार्किक मजबूती देती है। जो मुसलमान वहाँ सदियों से मौजूद है और जिसने विभाजन और विस्थापन का अनुभव नहीं किया है, वह समझ ही नहीं पाता कि पाकिस्तान आखिर क्यों बना है? सच पूछिए तो उसे कश्मीर से भी कुछ खास लेना-देना नहीं है। भीतरी इलाकों का पाकिस्तानी-सिन्धी तो कश्मीर विवाद से परिचित भी नहीं है।

भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों को लेकर एक असलियत को समझना बहुत जरूरी है। अपने इन दोनों देशों के बीच जो मसले और कड़वाहट है या रही है वह खासतौर से सरकारी,

फौजी, भारत से गए मुसलमानों, सरकारी अमलों, राजनेताओं और धार्मिक जमातों के कठमुल्लों के कारण ज्यादा है अन्यथा औसत पाकिस्तानी के दिलो-दिमाग में हिन्दुओं और हिन्दुस्तानियों के लिए नफरत नहीं है। अगर औसत और आम पाकिस्तानी के दिल पर हाथ रखकर पूछिए तो वह ईस्ट पाकिस्तान के बंगला देश बन जाने से नाराज नहीं है। बांग्लादेश बनने और वहाँ शर्मनाक शिकस्त खाने से पाकिस्तान का पुराना फौजी बहुत नाराज है। उस पुराने फौजी ने ईस्ट पाकिस्तान में हुई हार के जख्मों के लिए आज भी भारतीय फौज को माफ नहीं किया है जिसके सामने उसे ढाका में हथियार डालने पड़े थे और उन बंगालियों की वजह से भारतीय फौज के सामने शर्मशार होना पड़ा था, जो उनकी नजर में दोयम दर्ज के पाकिस्तानी थे। असल में पाकिस्तान का तीन पीढ़ी पहले का मुसलमान आज भी खुद को भारत या बंगाल के मुसलमान से ज्यादा बेहतर मुसलमान समझता है, पर पाकिस्तान में अब ऐसे मुसलमानों की वह पीढ़ी तो खत्म हो चुकी या हो रही है जो सिर्फ इस्लाम के नाम पर अपने को दूसरों से ज्यादा शुद्ध या बेहतर मुसलमान मानती थी। बंगाल के मुसलमान को लेकर उनके या नयी पीढ़ी के मुसलमान के दिल में अब कोई मलाल नहीं है। असल में देखा जाए तो उनके लिए पार्टीशन के बाद, अब पंजाब का हिन्दू उस बंगाली मुसलमान से कहीं ज्यादा नजदीक और अपना है, क्योंकि बंगला भाषा और संस्कृति से उनका साबका नहीं पड़ा था। मुस्लिम अक्सरियत का सिद्धान्त नाकाम हो गया था। ईस्ट पाकिस्तान की कोई स्मृति आम पाकिस्तानी को नहीं है। पराजय और देश टूटने की वह स्मृति फौजी तन्त्र और खुर्राट सरकारी अफसरों को है, इसे लेकर वे भारत का विरोध करते हैं।

आम पाकिस्तानी मानता है कि भारत ने चौतरफा विकास किया है। बड़े उद्योग लगाए हैं और वह हर तरह से पाकिस्तान से आगे है, पर उसे भारत-पाक की साझी विरासत मंजूर नहीं है। आम पाकिस्तानी मानता है कि उत्तर भारत और पाकिस्तान की संस्कृति में बहुत फर्क नहीं है, पर वह भारत की संस्कृति का साझीदार है, यह सच्चाई उसे नजर तो आती है पर वह इसे मानने को तैयार नहीं है। असल में पार्टीशन को सही और पाकिस्तान के निर्माण को जरूरी साबित करने के जोश में पाकिस्तान के कुछ बुद्धिजीवियों ने, जो भारत-पाक अलगाव को तंग-नज़री से देख रहे थे, उन्होंने बहुत जल्दी में कुछ कच्चे तर्क और लंगड़े सिद्धान्त यानी थ्योरीज तैयार कीं। इन्हें तैयार करने में कुछ तास्सुबी इतिहासकार हावी हो गए। इन्हीं में से एक हैं आई. एच. कुरैशी। यह लगभग वैसे ही पाकिस्तानी इतिहासकार हैं, जैसे कि भारत में हिन्दुत्ववादियों ने ओक साहब को पैदा किया है। आई. एच. कुरैशी ने कहा कि भारत उपमहाद्वीप के मुसलमान का अस्तित्व हमेशा से विशिष्ट और अलग रहा है हालाँकि वह भौगोलिक रूप से उसी भूभाग में रहता था, जिसमें हिन्दू भी रहता था, पर मजहब और कल्चर के नजरिए से हिन्दू और मुसलमान बहुत अलग थे। उनमें कोई समानता या एकता नहीं थी और वैसे भी दुनिया में जितने ज्यादा मुस्लिम देश होंगे, वह इस्लाम और मुसलमान के लिए ज्यादा फायदेमन्द है।

इस तरह की सोच वाले मुस्लिम इतिहासकार हालाँकि बंगलादेश बन जाने से खुश

नहीं हैं पर वे इस बात से जरूर खुश हैं कि पाकिस्तान से अलग होने के बाद बंगलादेश इस्लामिक मुल्क बना रहा और भारत में शामिल नहीं हुआ। अब भी पाकिस्तान में कुरैशी जैसे कुछ लोग हैं, पर अब पाकिस्तान इस संकीर्ण और दकियानूसी सोच से बहुत आगे आ चुका है। अब कुरैशी जैसे इतिहासकारों के लिए पाकिस्तान में स्पेस नहीं है। इस खुलेपन का एक बड़ा कारण वे विदेशी चैनल्स हैं जो आसमान के रास्ते से पहुँचते हैं, जिन्हें पाकिस्तानी देखता है।

वैसे किसी भी तरह के भारत-पाक महासंघ या कनफेडरेशन की बात से आज का आधुनिक प्रोगेसिव पाकिस्तानी भी सहमत नहीं है। मुझे लगता है कि वे सही हैं क्योंकि पाकिस्तान के प्रगतिचेता लेखकों-कवियों-पत्रकारों ने बड़ी मुश्किल से भ्रष्ट राजनीति और फौजी तानाशाही की अमानवीय मुश्किलों और खतरों का सामना करके पाकिस्तान में अपना एक इंसानी समाज तैयार किया है। अगर ईमानदारी से देखा जाए तो भारत की भ्रष्ट राजनीति और अपने राजनेताओं से खुद हिन्दुस्तानी अवाम मुक्ति चाहता है। ऐसे में भारत-पाक महासंघ की बात सोचना बेवकूफी है। सोचिए ज़रा, जब महासंघ में भारत-पाक दोनों देशों की भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूबी नेताशाही और नौकरशाही एक हो जाएगी तब मामूली आदमी तो छोड़िए, मध्य वर्ग तक की क्या दुर्गति होगी? मैं तो यह सोचकर सिहर उठता हूँ। पाकिस्तान के लेखकों-कवियों-पत्रकारों ने बड़ी कुर्बानियाँ देकर वह दुनिया ईजाद की है जो कोई ऐसा और देश नहीं कर पाया है जो पाकिस्तान जैसे अमानवीय हालात और अनुभवों से गुजरा हो। कहने को ही नहीं, पर वैसे भी भारत में लोकतन्त्र तो है ही और वह काफी सक्रिय भी है, पर अभिव्यक्ति की आजादी की जो मंजिलें पाकिस्तान के बुद्धिजीवियों ने हासिल की हैं, हिन्दुस्तान में लोकतन्त्र रहते भी उस स्तर की आजादियाँ भारत के बुद्धिजीवियों ने प्राप्त नहीं की हैं। पाकिस्तान में अभिव्यक्ति की आजादी अपनी गुणवत्ता और 'क्वालिटी' में भारत से कहीं आगे है। इसे लेकर मैं पाकिस्तान के प्रगतिशील बुद्धिजीवियों, लेखक-कवियों और पत्रकारों को सलाम करता हूँ जिन्होंने अवाम के दिलो-दिमाग को बदला है और सरकारी रवैये को बदलने के लिए मजबूर किया है। यह गुणात्मक हासिल वैचारिक समझौतों, आपसदारी, चापलूसी या रिरियाने से नहीं, पाकिस्तान के बुद्धिजीवी ने सतत् संघर्ष, साहस और जिन्दगी की सुविधाओं का बलिदान करके प्राप्त किया है। आज वहाँ के तमाम लेखकों-कवियों में शायद ही कोई ऐसा हो, जिसने जेल न काटी हो, जलावतनी न भुगती हो या निजाम और फौजी पुलिस की गैर-इन्सानी ज्यादतियाँ और अपमान न सहा हो।

पाकिस्तानी लेखकों-कवियों-पत्रकारों और वहाँ की समझदार जनता का यह बड़ा कारनामा है।

लाहौर से उठी लेखकों की आवाज़

वही, सांस्कृतिक केन्द्र अलमहरा का प्रांगण। वही अलमहरा का हॉल नम्बर तीन, और वही एशिया का सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक शहर लाहौर! वही तरीखें, 12, 13, 14 मार्च, 2004! सार्क देशों का सम्मेलन जारी है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि बुनियादी तौर पर सार्क देशों के इस आपसी आन्दोलन की दिशाएँ राजनीतिक और आर्थिक थीं। यही इस आन्दोलन का लक्ष्य था, पर धीरे-धीरे यह सांस्कृतिक आन्दोलन में ढल गया। आज सार्क का नाम लीजिए तो उसकी सांस्कृतिक और वैचारिक भूमिका ही सामने आती है। इसे एक कारगर सांस्कृतिक, वैचारिक और रचनात्मक आन्दोलन बनाने का सारा श्रेय अजीत कौर को है जिन्होंने 'एकादमी ऑफ आर्ट एण्ड लिटरेचर' के तत्वावधान में 'फाउण्डेशन ऑफ सार्क राइटर्स की नींव डाली और इसे एक जीवन्त सांस्कृतिक-रचनात्मक आन्दोलन बना दिया। इसमें उनकी पुत्री, विश्व प्रसिद्ध पेण्टर अर्पणा कौर का बड़ा ही खामोश अवदान है... सच बात यह है कि सार्क देशों के इस सांस्कृतिक आन्दोलन को अजीत कौर ने 'घर फूँक तमाशे' के तौर पर जीवित रखा है।

जाहिर है कि लाहौर के दसवें सम्मेलन से पहले जो नौ सम्मेलन हुए, वे नेपाल, बांग्लादेश, मालदीव और दिल्ली में ही हुए। कुछ देशों में दो-दो बार यह सम्मेलन हो चुके हैं। पहला सम्मेलन दिल्ली में सन् 2000 में हुआ और यह मेरा सौभाग्य था कि सार्क देशों के लेखकों के प्रथम सम्मेलन का बीजभाषण देने का दायित्व मुझे सौंपा गया। इस सम्मेलन का औपचारिक उद्घाटन महामहिम राष्ट्रपति माननीय श्री के. आर. नारायणन करने वाले थे। ऐन वक्त पर राष्ट्रपति महोदय नहीं आ सके, अत: उद्घाटन माननीय पूर्व प्रधानमन्त्री वी. पी. सिंह ने किया। सार्क देशों के लेखकों के प्रथम सम्मेलन का बीजभाषण मैं यहाँ ज्यों का त्यों दे देना जरूरी समझता हूँ।

सार्क देशों के लेखकों के प्रथम सम्मेलन का बीज-सम्बोधन
दिल्ली : **28** अप्रैल, **2000**

भारत में सामाजिक न्याय का नया अध्याय शुरू करनेवाले, और आज दक्षेस (सार्क) देशों के

इस पहले सम्मेलन के उद्घाटनकर्ता भूतपूर्व प्रधानमन्त्री आदरणीय श्री वी. पी. सिंह जी, और भारत में जनवादी लोकतन्त्र के दृष्टा और मैत्री के 'गुजराल सिद्धान्त' के प्रणेता, भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री इंद्र कुमार गुजराल जी!

मंच पर मौजूद भारतीय अंग्रेजी साहित्य के आकाश और पाताल को पेश करने वाले, साथ ही हर गलत होती बात पर सही वक्त पर सही हस्तक्षेप करने वाले, आज की इस उद्घाटन सभा के अध्यक्ष आदरणीय खुशवंत सिंह जी!

पाकिस्तान से आए अजीम शायर, जिन्होंने दिलों की तालाबन्द बस्तियों को दुबारा खोला, हमारे भाई और दोस्त जनाब अहमद फराज साहब!

इस अकादमी ऑफ फाइन आर्ट्स एण्ड लिटरेचर को जनम देनेवाली, पंजाबी कथा साहित्य की शख्सियत, धुनी पागलों की तरह इस सार्क सम्मेलन को संभव बनानेवाली, और अब तक इसी सम्मेलन को लेकर नीम पागल हो चुकी—हमारी जिद्दी हमसफर सुश्री अजीत कौर जी और यहाँ मंच पर हम सबको व राजनेताओं तक की संचालित करनेवाले, भारतीय साहित्य अकादमी के भूतपूर्व सचिव आदरणीय प्रो. इन्द्रनाथ चौधरी जी!

हमारे बीच यहाँ मौजूद उर्दू जुबान के आधुनिक अमीर खुसरो माननीय भाई गोपीचन्द्र नारंग जी!

साथ ही दक्षेस देशों से आए, इस दौर की बेचैनी, दर्द और अकुलाहट को वाणी देने और अच्छे भविष्य के दम तोड़ते सपने को जिन्दा बचाए रखनेवाले हमसफर रचनाकार बन्धुओ! आप सबको आदरपूर्वक सलाम!

दक्षेस के सात देशों के रचनाकारों और बुद्धिजीवियों की यह जबरदस्त मौजूदगी बता रही है कि देशों के राष्ट्रवादी रुझानों की राजनीतिक सरहदों के बावजूद साहित्यकारों के पास शब्द का वह सीमाहीन संसार है, जिसके हम स्थायी नागरिक हैं, क्योंकि हर देश में हमारा एक देश है। हम राजनीति द्वारा पैदा किए गए नकारात्मक राष्ट्रवाद को मंजूर नहीं कर पाते, इसीलिए हमारी रचनाएँ खैरियत के खतों की तरह लिखी और एक दूसरे को भेजी जाती हैं, जो सरकारी या फौजी डाकखानों में कभी-कभी पड़ी रह जाती हैं। हम दक्षेस देशों के लेखक, अलग-अलग देशों की इस 'डाक-व्यवस्था' को सुधारना चाहते हैं ताकि हमारे खैरियत के खत सही पतों पर पहुँचते रहें, इसी 'डाक व्यवस्था' की जाँच-परख के लिए हम यहाँ जमा हुए हैं।

दोस्तो! हमारे भाषा वैज्ञानिक बताते हैं कि एशिया का पुराना नाम 'आसु' था। यह एशिया की काफी प्राचीन भाषा संस्कृत के शब्द 'उषा' से निकला है। उषा का अर्थ होता है- सूर्योदय! यानी, हम एशिया महादेश के सूर्योदय के वारिस सात देश हैं। दक्षिण में हम सात देशों को सूर्यास्त, यानी औपनिवेशिक अंधकार के दौर से भी गुजरना पड़ा है।

योरोपीय इतिहासकार दावा करते हैं कि वॉस्कोडिगामा के योद्धा और व्यापारियों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के इलाके को खोजा था। वे यह नहीं बताते कि हम दक्षिण-पूर्वी एशियावालों ने उन्हें कब खोजा था? वे यह भी नहीं बताते कि जब योरोप अन्धकारग्रस्त था तब हमारे पूर्वज उसकी उत्पादनहीनता और पिछड़ेपन से परिचित थे। सदियों बाद जब योरोप में रोमन साम्राज्य का उदय हुआ, तब सारे कीमती और जरूरी उत्पाद दक्षिण एशिया के देशों से ही वहाँ जाते थे। दोस्तो! पवित्र बाइबिल बताती है कि जब प्रभु ईसा

मसीह का जन्म हुआ, तब वहाँ अनेक अलौकिक विभूतियाँ मौजूद जिनमें एक 'वाईज मैन ऑफ द ईस्ट' (Wiseman of the East) भी था। वे हमें यह भी नहीं बताते कि पुरानी बाइबिल में शामिल चौथी कहानी 'एक चावल की कहानी' ईसा से दो हजार वर्ष पहले लिखी गई भारत की 'जैन आगम कथाओं' की पहली कहानी है। तो खैर...

हमने औपनिवेशिक सत्ता की ज्यादतियों को मंजूर किया, इसमें कमजोरियाँ हमारी भी थीं। दक्षिण एशिया के देश अपनी मध्यकालीन अकड़, दकियानूसी परम्पराओं और बीमार जातीय गौरव से ग्रस्त थे। अपनी राष्ट्रीयताओं और धर्मगत जातीयताओं को लेकर लड़ने में मशगूल थे। इसी का फायदा औपनिवेशिक शक्तियों ने उठाया। दक्षिण ऐशिया के बहुलतावादी समाज के ऐसे अंदरूनी मतभेदों को, जिन्हें मैत्री की भावना और बड़प्पन से सुलझाया जा सकता था, उन्हें साम्राज्यवादियों ने संकीर्ण जातीय जामा पहनाकर एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर दिया। बहरहाल...

तो दोस्तो! आज दक्षिण एशिया के सात आजाद देश अब राजनीतिक सच्चाई हैं। दक्षेस देश दुनिया की 26 प्रतिशत आबादी की नुमाइंदगी करते हैं... और हम और आप रचनाकार और बुद्धिजीवी इस 26 प्रतिशत आबादी की आवाज की नुमाइंदगी करते हैं। हम सातों देशों की अपनी सरहदें हैं। हम सब स्वतन्त्र और सार्वभौम हैं। हमारे कानून और शासन व्यवस्थाएँ अलग-अलग हैं। विकास के मॉडल अलग-अलग हैं, इसके बावजूद हमारे इतिहास और भूगोल बहुत अलग-अलग नहीं हैं। हममें से हरेक देश का इतिहास एक दूसरे के बगैर अधूरा है। हमारे पर्वत दक्षेस के कई देशों को सुरक्षा देते हैं। हमारी नदियाँ कई देशों में बहती हैं। वे एक ही महासागर में गिरती हैं। एक ही मानसून हम सबों को पानी देता है। हम सभी की धरती पर एक-सा अनाज उपजता है, एक से फूल खिलते हैं... एक सी चड़ियां चहकती और परवाज करती हैं। जहाँ समुद्र की खाड़ियों ने सीमाएँ बनाई हैं, वहाँ भी आपकी लहरें हम तक आती हैं, हमारी लहरें आप तक जाती हैं। वे लहरें हर तट पर एक ही आवाज में गुनगुनाती हैं... हमारी भाषाओं का उद्गम समान है। दक्षेस देशों की भाषाओं के सांस्कृतिक स्रोत, हमारे अवाम ने सदियों से तलाश रखे हैं। राजनीतिक सरहदों के बावजूद हमारे लोक गीतों, लोक कथाओं में समान तत्व मौजूद हैं। हम एक ही हम एक ही बात पर एक तरह से हँसते या रोते हैं। हमारी खुशियों और आँसुओं के कारण एक हैं।

इतनी तमाम समानताओं के बावजूद यह कितना कड़वा सच है कि नेपाली या सिंहली भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि या उपन्यासकार का नाम हम नहीं जानते। भूटान या मालदीव के लेखकों के नाम तलाशने में महीनों लग जाते हैं। सांस्कृतिक शून्य की यह पराकाष्ठा है, जबकि दक्षेस देशों की भाषाओं में विश्वस्तरीय लेखन हो रहा है। भारतीय अंग्रेजी लेखन दुनिया के देशों में अपने कीर्तिमान स्थापित कर रहा है, लेकिन नेपाल, भूटान या श्रीलंका में इसकी भी कोई जानकारी नहीं है। सूचना विस्फोट के इस दौर में जब दुनिया सिकुड़ गयी है, हम पड़ोसी होते हुए भी एक दूसरे के लिए अजनबी हैं। इसका कारण यह भी है कि दक्षेस के देश अपनी अंदरूनी जातीय समस्याओं से ग्रस्त हैं। कहीं घृणा पर आधारित दिगभ्रमित, आधकचरा राष्ट्रवाद है, कहीं अन्धा धार्मिक उन्माद है, आतंकवाद है, सत्तावादी फिरकापरस्त साजिशें हैं। उग्रपंथी विद्रोह और देशद्रोह है... साथ ही हम गरीबी, कुपोषण और अशिक्षा के शिकार हैं। हमारे देश राष्ट्रीय राज्य की अपनी स्थिर शक्ति

स्थापित नहीं कर पा रहे हैं। वे खुद अपने से सन्तुष्ट नहीं हैं, इसलिए वे अपने पड़ोसियों से भयग्रस्त भी हैं। उग्र और अन्ध राष्ट्रवाद तो इन हालात में पनप सकता है, पर संस्कृति और साहित्य को इन हालात में पनपने का मौका नहीं मिलता। ऐसे में आदान-प्रदान हो सके, हम एक दूसरे के साहित्य और उसकी सोच को जान सकें और आगे बढ़ा सकें, इसी के लिए हम आज यहाँ इकट्ठे हुए हैं।

देशों की राजनीति के अनिर्णय और अस्थिरता के कारण अब तक हमारे सांस्कृतिक और साहित्यिक मसले स्थगित रहे हैं। हमारी रचनात्मक दोस्ती रुकी हुई हैं... जनसामान्य के पक्ष में परिवर्तन की मांग करनेवाली आवाजें अकेली पड़ गयी हैं। नीत्शे (जर्मन दार्शनिक) ने ईश्वर की मृत्यु की घोषणा कर दी थी। आज के उतर आधुनिकतावाद ने इतिहास और विचार की मृत्यु की इकतरफा घोषणा कर दी है...

दोस्तो! बाजारवादी शक्तियों की इस घोषणा को हम दक्षेस संगठन के देश कैसे मंजूर कर सकते हैं? आइए, हम घोषणा करें कि गरीब, अविकसित और विकासशील देशों का इतिहास तो अभी तय होना है... हम इतिहास और विचार की मृत्यु को मंजूर नहीं करते। हमारा गरीब-भूखा आदमी इटेलियन पिज्जा नहीं खा सकता। पसीने से लथपथ हमारा किसान-मजदूर क्रिश्चियन डियोर परफ्यूम नहीं लगा सकता। बुझे हुए चूल्हों पर रोटियाँ पकातीं हमारी मजलूम महिलाएँ अपनी कलाइयों पर रत्न-जड़ित राडो की घड़ियाँ नहीं पहन सकतीं। हमें अपनी रोटियों, अपनी खुशबुओं और अपने समय की जरूरत है... राडो की घड़ियाँ हमें हमारा वक्त नहीं बता सकतीं।

अपनी रोटियों, अपनी खुशबुओं और अपने वक्त को दक्षेस के देश खुद मिलकर रेखांकित और तय करेंगे।...

इसी के साथ आ गया है आकाशमार्ग की चैनलों से आने वाले सांस्कृतिक आक्रमण का खतरा। तीसरी दुनिया के सभी देश इस खतरे से घबराये हुए हैं...

दोस्तों! मैं समझता हूँ कि इस खतरे से हमें डरने या घबराने की जरूरत नहीं है... दक्षेस संगठन के देश इस खतरे का मुकाबला बखूबी कर सकते हैं, क्योंकि दक्षेस देशों के पास अपनी-अपनी देशज और बहुलतावादी लोक-संस्कृति मौजूद है। साहित्य का वह खजाना मौजूद है जो उत्पाद-केन्द्रित विज्ञापनवादी संस्कृति का मुकाबला बखूबी कर सकता है।

इस अभियान में आइए—दक्षेस देशों के हम रचनाकार यह तय करें कि हम स्पर्धात्मक संस्कृति का नहीं, बल्कि पूरक-संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं। हम एक दूसरे को परास्त नहीं करना चाहते, हम पूरक बनकर एक दूसरे के साथ सम्मिलित संस्कृति के वाहक बनना चाहते हैं!

दोस्तो! एक बात और कहूँ। —दक्षेस देशों के कलमकारों का यह सम्मेलन अधूरा है। हम दक्षिण एशिया के देश यहाँ पूरे कहाँ है? कहाँ हैं एशिया का एक कन्धा और एक बाँह? कहाँ है अफगानिस्तान और म्याँमार?... इन दोनों देशों की शिरकत के बिना यह संगठन अधूरा और लँगड़ा है...मैं यहाँ अपने तमाम रचनाकार दोस्तों से दरख्वास्त करता हूँ कि अफगानिस्तान और म्यांमार की आत्मा की तलाश करें, हम अफगानिस्तान और म्यांमार को बताएँ कि दक्षेस देशों के रचनात्मक भविष्य को तय करने में आपको शामिल होना है...

हम अपनी-अपनी देशज संस्कृतियों में अपनी साँसें लेंगे, लेकिन साथ ही यह सुनिश्चित करेंगे कि एक व्यापक मानवीय और सम्मिलित संस्कृति के 'भविष्य-भवन' की आधारशिला, इस आती हुई इक्कीसवीं सदी में रखी जा सके।

दोस्तो! राजनेताओं से भी एक बात कहना जरूरी है— सार्क सम्मेलन की गति धीमी पड़ती जा रही है। कहीं ऐसा न हो कि यह संगठन निर्जीव होकर इतिहास के पन्नों में दफन हो जाए। इसे गति देने की जरूरत है। यह इलाका सात देशों का ही नहीं, विश्व की सात बड़ी भाषाओं का इलाका भी है...मानव-शुभ की सम्पदा से यह सातों भाषाएँ मालामाल हैं।

हर राजनेता के भीतर भी एक मनुष्य और कवि बैठा हुआ है, वह कभी-कभी नज़र आता है। हम उसे और ज्यादा देखना चाहते हैं...हम यह भी चाहते हैं कि राजनेता हमारी सोहबत में ज्यादा रहें। हमारी सोहबत में रहिएगा तो दिलों के दरवाजे आपको हमेशा खुले मिलेंगे।

तो, सातों देशों से आए सम्मानीय लेखक मित्रो! खुले दिल, दिमाग़ और खुले दरवाजों का यह सार्क सम्मेलन अपने सातों देशों की संस्कृति और साहित्य के नाम समर्पित है। मैं आप सबको फिर याद दिलाता हूँ कि हमारे अपने-अपने देश तो हैं ही, लेकिन सच्चे रचनाकार का एक देश हर देश में मौजूद है। हम उसी को रेखांकित करने के लिए यहाँ जमा हुए हैं।

धन्यवाद, नमस्कार।

कमलेश्वर
(भारत)

प्रथम लेखक सम्मेलन का यह बीज भाषण कुछ अन्य समकालीन लेखकों से हुए गंभीर विचार-विमर्श के बाद लिखा गया था, इसमें पूर्व प्रधानमन्त्री इंद्र कुमार की राय भी शामिल है, अतः इसे यहाँ दे देना मुझे जरूरी लगा, क्योंकि सार्क सम्मेलन का वैचारिक स्वर तय करने में इस वक्तव्य से बहुत मदद मिली है। और दसवें सम्मेलन तक लाहौर पहुँचते-पहुँचते इसका वैचारिक पक्ष अपनी पूरी शक्ल ले चुका था। यहाँ यह नोट कर देना मैं जरूरी समझता हूँ कि सिर्फ लेखक सम्मेलन के वैचारिक पक्ष को तय करने में पाकिस्तान के दो खास दोस्त और भाई इन्तजार हुसैन और अहमद फराज की पूरी शिरकत और संलग्नता रही है। वैसे तो पाकिस्तान से हमेशा महत्वपूर्ण दानिशवरों-लेखकों-शायरों का प्रतिनिधिमण्डल आता रहा है पर नेपाल के एक सम्मेलन को छोड़कर हमारे दोनों दोस्त और भाई अहमद फराज और इन्तजार हुसैन प्रत्येक सम्मेलन में शामिल रहे हैं। दोनों का सक्रिय योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण और दिशा-बोधक रहा है।

खास बात यह है कि लाहौर सम्मेलन बहुत ही उन्मुक्त वातावरण में हुआ, क्योंकि नेपाल में हुए दोनों सम्मेलनों में उन्मुक्ता के बावजूद सरकारी हस्तक्षेप और सक्रियता भी नजर आती

रही। समाजशास्त्रीय नजरिए से देखा जाए तों नेपाल हिन्दू सामंतशाहों का देश है तो पाकिस्तान मुस्लिम सामंतवादियों का मुल्क है। पाकिस्तान में फौज की तानाशाही है तो नेपाल में राजशाही की निरंकुशता! और जैसा कि मैंने पहले कहा, पाकिस्तान के दानिशवरों ने बलिदान दे-देकर अभिव्यक्ति की बड़ी आजादियाँ हासिल की हैं, यही कारण था कि लाहौर सम्मेलन में पाकिस्तान की केन्द्रीय सरकार की शिक्षा मंत्री जुवैदा जलाल शामिल हुई, पर उनके भाषण में राजनीति का कोई अंश नहीं था। हालाँकि वे फौजी तंत्र का हिस्सा थीं पर उनकी शालीनता और विनम्रता बहुत अनुमेय थी। वे लेखकों का कितना आदर करती थीं, यह बात उनके उठने-बैठने से स्पष्ट थी।

मोहतरमा जुबैदा जलाल केन्द्रीय शिक्षा मंत्री हैं। सम्मेलन के औपचारिक उद्घाटन सत्र के बाद कई तेज तर्रार पाकिस्तानी लेखकों पत्रकारों ने उन्हें घेरा और पूछा कि पाठ्यक्रम में इतिहास और ‘भारत-पाक’ रिश्तों को लेकर जो ज्यादतियाँ की गई हैं, उनका निराकरण वे कर रही हैं या नहीं?

मंत्री महोदया जुबैदा जलाल ने बड़े संयत शब्दों में कवियत्री किश्वर नाहीद की बात को रेखांकित करते हुए कहा, वक्त बदल गया है, इसके साथ-साथ हमें अपने दिमागों की खिड़कियों को भी खोलना पड़ेगा और अपने कल्चर के इतिहास को मंजूर करना पड़ेगा। वगैर इसके हम विकास और सोच की सही दिशा तय नहीं कर पाएँगे... वैसे भी हमें अपने माजी (अतीत) से इनकार नहीं करना चाहिए... और पाठ्यक्रम में जो गलतियाँ हुई हैं, उनकी तरफ अदीबों ने बहुत पहले ध्यान दिलाया था। हम बच्चों के पाठ्यक्रम की किताबों की जाँच शिक्षा विशेषज्ञों और समाजशास्त्रियों से करवा रहे हैं। उनकी सिफारिशों को हम लागू करेंगे।

असल में पाकिस्तान के दसवें दर्जे और निचले दर्जे के पाठ्यक्रम में भारत के बारे में बहुत गलत जानकारियाँ दी गयी हैं, वहाँ हिन्दुओं और सिखों को शैतान का वंशज बताया गया है, लगभग वहाँ वैसा ही पाठ्यक्रम लागू है जैसा कि भारत में आरएसएस द्वारा चलाए जा रहे सरस्वती शिशु मंदिरों में पढ़ाया जाता है। सरस्वती शिशु मंदिर की पाठ्य पुस्तकें इस्लाम धर्म और मुसलमानों के प्रति घृणा से भरी हुई हैं। वे कर्मकाण्डी-वर्णवादी सनातनी विचारधारा का प्रचार करती हैं। यह भी खासे आश्चर्य की बात थी कि पाकिस्तान में पाठ्यक्रम सुधार का आन्दोलन चल सका, इसमें मुख्य प्रश्न इतिहास का है क्योंकि राष्ट्रपति जिया-उल-हक की फौजी तानाशाही और राजनीतिक इस्लाम परस्ती के अन्धे दौर में पाकिस्तान ने अपना रिश्ता सिन्धु सभ्यता, मोहनजोदड़ो-हड़प्पा, वैदिक युग और इसके बाद के अशोक कालीन इतिहास से पूरी तरह तोड़ लिया था। अब पाकिस्तान में अतीत से नाता जोड़ने और उसे समझने की तेज मुहिम चल रही है।

सही कहें तो सार्क के सात देशों के इस सम्मेलन में भारत-पाकिस्तान की समस्याएँ और सवाल ही हावी रहे। शेष पाँच देश लगभग अनुपस्थित रहे हैं, लेकिन कुल मिलाकर ऐसा नहीं था। सारे सदस्य देश जानते हैं कि जब तक भारत-पाकिस्तान में आपसी समझदारी और दोस्ती पैदा नहीं होती, तब तक दक्षिण-एशिया में शान्ति और विकास की

बात सोची भी नहीं जा सकती। भारत-पाक संघर्ष की वजह से सार्क देशों की क्षेत्रीय उपस्थिति और उनके फैसलों में भी, भारत-पाक संघर्ष के कारण खलल पड़ता है। इसीलिए सभी सदस्य देश भी चाहते थे कि यह दोनों देश अपने सम्बन्धों को सुधार सकें... बांग्लादेश, भूटान, श्रीलंका और नेपाल के लेखकों ने अन्य सत्रों में बहुमूल्य शिरकत की और दक्षिण एशिया की भौगोलिक और सांस्कृतिक परस्परता की अनदेखी दिशाओं का संधान किया और नारी अस्मिता जैसे अधुनातन सवालों को बेबाकी से प्रस्तुत किया तथा अपने-अपने देश की सामाजिक आर्थिक पहचान और हालात का विवरण भी दिया।

तो, यह ऐतिहासिक विचार विमर्श लगातार जारी था।

सात देशों के लेखकों का समवेत स्वर

लाहौर के बेहद खूबसूरत सांस्कृतिक केन्द्र अलहमरा में सार्क के सात देशों के लेखकों की यह कांफ्रेंस चल रही थी। वैसे तो यह दसवीं कांफ्रेंस थी, पर पाकिस्तान में सात देशों के लेखकों का यह पहला सम्मेलन था। इससे पहले वाला सम्मेलन मालदीव में हुआ था। इन सम्मेलनों की भूमिका दक्षिण एशिया के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि आज के जमाने में, सही अर्थों में लेखक होना आसान नहीं है। आज लेखक के दायित्व बहुत विस्तृत हो गए हैं, वह मात्र लिखकर ही लेखक नहीं बना रह सकता। उसकी भूमिका में सक्रियता, प्रतिरोध और समय पर अपनी बात लिखने का ही नहीं, बल्कि सार्वजनिक रूप से कह सकने का साहस भी होना चाहिए।

इन सम्मेलनों में मैं शामिल रहा हूँ और मैंने प्रत्येक सदस्य देश से आए लेखक-कवि की सोच का दायरा यहाँ के माहौल में खुलता और विकसित होता हुआ देखा है। शुरू के सम्मेलनों में लेखक-कवि आते थे, वह अपने देश का प्रतिनिधित्व करने के नाम पर अपनी सरकारों की सोच से ज्यादा जुड़े हुए होते थे। परन्तु पिछले वर्षों में मैंने देखा और महसूस किया कि जो भी लेखक आए, उन्होंने सातों देशों के विभाजित और राजनीतिक भूगोल का अतिक्रमण किया। इन सात देशों में भारत-पाकिस्तान के अलावा नेपाल, बंगलादेश, भूटान, श्रीलंका और मालदीव देश शामिल हैं। सम्मेलन ने लगातार कोशिश की है और चाहा है कि उसके दायरे में म्याँमार (बर्मा) और अफगानिस्तान को आना चाहिए और इन दोनों देशों के बुद्धिजीवियों की सक्रिय भागीदारी होनी चाहिए। औपचारिक स्तर पर अभी यह संभव नहीं हो पाया है, पर अनौपचारिक रूप से सार्क लेखक सम्मेलनों में म्याँमार के उन लेखकों-कवियों से वहाँ की जानकारी मिलती रही है, जो म्याँमार में फौजी तानाशाही द्वारा वहाँ के लोकतान्त्रिक चुनावों को निरस्त किए जाने के कारण भारत में भूमिगत जीवन गुजार रहे हैं। फौजी तानशाहों ने उनकी नेता सू-की को करीब डेढ़ दशक से नजरबन्द कर रखा है और जो सांसद जनता द्वारा चुने गए थे, उन्हें संसद में बैठने और देश की लोकतान्त्रिक सरकार चलाने से वंचित करके अपने जुंटा को सता में आसीन कर रखा है। इन फौजी तानाशाहों ने म्याँमार (बर्मा) के काफी लेखकों-कवियों को गिरफ्तार कर रखा था, उनमें से कुछ की मौत हो चुकी है। मालदीव के सम्मेलन में यह भयावह जानकारी पहली बार सामने आई थी और सार्क सम्मेलन में शामिल छह देशों के लेखकों ने फौजी तानाशाही के इस कृत्य की भर्त्सना करते हुए प्रस्ताव भी पारित किया था। इसी प्रस्ताव में

पाकिस्तान के दो लेखकों-पत्रकारों के साथ हो रहे सरकारी व्यवहार की अमानवीयता के विरोध में, भर्त्सना भी की गयी थी।

मालदीव के लेखकों ने प्रस्ताव के अनुमोदन से स्वयं को तटस्थ रखा था, क्योंकि वह लेखक, जो कि संख्या में तीन या चार से अधिक नहीं हैं, सरकार से अलग रहकर अपनी सोच की आजादी के मूल्यों को अभी अंगीकार नहीं कर पाये हैं। शुरू-शुरू में सार्क देशों के लेखकों में यह पराधीनता या मजबूरी स्पष्ट दिखाई देती थी, पर अब स्थिति वह नहीं रह गई है। लाहौर के दसवें सम्मेलन की यह उपलब्धि थी कि सातों देशों के लेखकों में से किसी भी देश के लेखक ने अपनी सरकारों की पूर्व निर्धारित राजनीतिक या सांस्कृतिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व नहीं किया। वे सारे लेखक अपने देश के प्रतिनिधि की तरह नहीं बल्कि एक उन्मुक्त, वर्जना रहित व्यक्ति और लेखक की तरह बोले।

पाकिस्तान की 'एक्शन-एड' की फौजिया सईद ने जब यह कहा कि हमें अपनी निजी देशज पहचान बरकरार रखते हुए अपनी विविधता और परस्परता के लिए जिस एक बड़ी सामूहिक पहचान की जरूरत है और जो हमें बनानी है वह धार्मिक-मजहबी पहचान से अलग होगी, जिसे कुछ देशों ने बना और अपना रखा है। फौजिया सईद की यह बात मेरे दिमाग में गूँजती रही। क्योंकि फौजिया सईद की इस बात में सघन सांस्कृतिक संकेत था। यह पाकिस्तान के सांस्कृतिक शहर लाहौर में दिया गया, एक पाकिस्तानी लेखक-बुद्धिजीवी का अनुभवजन्य निडर वक्तव्य था! यह इस बात का साफ ऐलान भी था कि अब देशों की धार्मिक पहचान का दौर समाप्त हो चुका है, और यह भी कि धर्म केन्द्रित राजनीति के लिए भी अब कोई जगह नहीं रह गयी है, अब इंसानी पहचान और सवालों की सदियां शुरू हो चुकी हैं। सांस्कृतिक सोच की सदियाँ आ गयी हैं।

यहाँ मैं खासतौर से दर्ज करना चाहूँगा कि यह मात्र जिन्ना साहब और अल्लामा इकबाल का पाकिस्तान नहीं, यह हमारे दौर के सबसे बड़े शायर फैज अहमद फैज, इतिहासकार डॉ. अशरफ और सांस्कृतिक व्यक्तित्व और बुद्धिजीवी सज्जाद जहीर का पाकिस्तान भी था। यह मंटो का पाकिस्तान तो था ही, यह कृशनचंदर, राजेन्द्र सिंह बेदी और इस्मत चुगताई का पाकिस्तान भी था। और जब मोहतरमा फौजिया सईद ने यह कहा तो अलहमरा के हॉल नं. 3 में पाकिस्तान सहित सातों देशों के लेखक तो थे ही, फैज साहब की महशूर पेंटर बिटिया सलीमा और पाकिस्तान के बानी अल्लामा इकबाल के बेटे जावेद इकबाल, लाहौर में लिखे जाते इस बड़े इतिहास के गवाह के रूप में मौजूद और शामिल थे।

समझ में नहीं आता कि मैं पाकिस्तान के लेखकों-शायरों-पत्रकारों का किन और कितने बड़े शब्दों में जिक्र करूं? किन-किन का नाम दर्ज करूं? इस सांस्कृतिक इन्सानी मुहिम में सभी तो शामिल हैं। इस पूरी मुहिम को अहमद फ़राज के शब्दों में बहुत ऊंचाइयाँ उस वक्त बख्श दीं, जब उन्होंने एक अफ्रीकी कवि की कुछ लाइनें सुनाई—कि 'अब मैं समंदर के किनारे बीज बोकर फूल नहीं उगाऊँगा/क्योंकि लहरें फूलों की सारी फसल को हर बार डुबो देती हैं!' मैं मन ही मन उनका शैदाई हूँ बल्कि मैं उनकी खुली तारीफ करने के लिए मन से मजबूर हूँ क्योंकि उन्होंने एक बहुत बड़े दानिशवर की तरह कहा कि 'सत्ता से सच बोलना हमारा बुनियादी काम है!"

कहना पड़ता है कि पाकिस्तान के दानिशवरों ने अपने सांस्कृतिक और सियासी

अनुभवों से कुछ कीमती सत्य हासिल किए हैं जो सिर्फ फौजी तानशाही के दौर में ही नहीं, जनवादी आकाँक्षाओं से दूर चले गए लोकतन्त्र में भी बेहद कारगर साबित हो सकते हैं। ऐसे शब्द मनुष्य की आत्मा का प्राणतत्व बन जाते हैं। भाई अहमद फ़राज का वह कथन हम लेखकों को लोकतन्त्र में भी बर्बर और बेईमान हो गयी आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सत्ता का सामना करने की दृष्टि, प्रतिबद्धता और साहस देता है।

सारे लेखकों को पहली शाम ही डिनर के लिए लाहौर के पुराने अनारकली बाजार की मशहूर 'फूड स्ट्रीट' ले जाया गया। अद्‌भुत है लाहौर की फूड स्ट्रीट! यहाँ मात्र खाना या पाकिस्तान की पाक-कला से ही मुलाकात नहीं होती बल्कि एक बेमिसाल तहजीब और जीती-जागती लोक-संस्कृति से भी मुलाकात होती है। उर्दू की तरह ही हमें अपनी पंजाबी भाषा के सामने एहसान से सर झुकाना होगा कि उसने दुनिया के इस एशियाई हिस्से के लोक बिरसे को इतनी आन, बान और शान से जीवित रखा है। पंजाबी के इस बहुमूल्य लोक बिरसे ने राजनीति और राष्ट्रीयता की खोखली और बेमानी सरहदों को नामंजूर किया है। धरती का जो भूगोल विभाजित किया गया, उसे मानने से इनकार कर दिया है। खोखली राष्ट्रीयता और घटिया राजनीति चाहे जितने कँटीले तार लगाकर सरहदों का बँटवारा करती रहे, चाहे जितनी बारूदी सुरंगें बिछती रहें, चाहे जितनी गोली-बारी करती रहे, वह संस्कृति की इंसानी धरती को बंजर नहीं बना सकती। इसका प्रमाण था लोकगायक हामिद अली बेला की बुलन्द आवाज वाली वह गायकी जो गुलाम शाह की 'काफी' हम मेहमानों के लिए पेशकर रही थी और बता रही थी कि संस्कृति के भूगोल के रंग सैकड़ों हो सकते हैं पर उसकी आत्मा की मिली-जुली आवाज़ को तोड़ा नहीं जा सकता...उसकी लय को खंडित नहीं किया जा सकता...और यही कारण था कि जिन्दगी में पहली बार मैं लोकगायक हामिद अली बेला की गूँजती-पुकारती आवाज पर बेबस होकर वहीं फूड-स्ट्रट में बैलौसी से नाच उठा था, जहाँ पहले से ही पचासों लोग नाच रहे थे...लोक संस्कृति और लोकगायकी का यह अनुभव मेरे लिए अलौकिक और अद्‌भुत था। यह था समवेत, सहजीवी संस्कृति की शक्ति का जीता-जागता नमूना जो पंजाबी लोक संस्कृति का प्राणतत्व है।

प्यार का जितना बड़ा सरमाया पंजाबी लोककाव्य के पास है और जो अपने आधुनिक संवेगों के साथ, आज इक्कीसवीं सदी तक उसी भावनात्मक शिद्दत से जीवित है, ऐसा कीमती सरमाया दुनिया की किसी भाषा-संस्कृति के पास नहीं है!...शुरू से लाहौर ही इस पंजाबी लोक-संस्कृति का केन्द्र रहा है। हम चाहे लकीर खींचकर आलमी सरहदें अलग कर दें, पाकिस्तानी-पंजाब और हिन्दुस्तान के पंजाब को अलग-अलग कर लें, पर पंजाबी कल्चर का केन्द्र लाहौर था और आज भी वही है। संस्कृति की उद्दाम नदियों का विस्तार और वेग दिखाई नहीं देता क्योंकि व्यक्ति और समाज के दिलों और नसों में वह अदृश्य रूप से बहता रहा है...यह तो अब स्थापित है कि यह पंजाबी जन-संस्कृति सिन्धु सभ्यता के दिनों की देन है, जिसमें आर्य, शक, हूण, यूनानी, गांधार और मध्यकालीन इस्लामी संवेगों का सकारात्मक सरमाया मौजूद है...इसमें उत्तर पश्चिम से आए हमलावरों की आक्रामक

लहरों ने जीवन की जो अनिश्चितता, विस्थापन और मानसिक विचलन उत्पन्न किया था, उस भावनात्मक शून्य और जीवन की क्षणिकता को प्रेम जैसे संवेग की उदात्त लौकिक निरन्तरता से ही अमरत्व प्रदान किया जा सकता है। इसलिए यह कहना जरूरी है कि निरन्तर आपात स्थितियों में पली और विकसित हुई पंजाबी कल्चर ने विरोधी अंशों की जो संतुलित और जीवनपरक 'सिंथेसिस' अर्जित की है, वह धर्मों और नस्लों से बहुत ऊपर की सच्चाई है, जिसका बेहतरीन प्रमाण है—आधुनिक भारतीय सभ्यता का अजेय काव्यग्रन्थ गुरुग्रंथ साहब! हमने 'सभ्यताओं के संघर्ष के सिद्धान्त को सदियों से खारिज कर रखा है। हमने यानी पूरब ने हमेशा सभ्यताओं के सम्मिश्रण, सहभागिता, सह-अस्तित्व और पूरकता के सिद्धान्त को अंगीकार किया है...इसका जीता-जाता नमूना है हमारे पंजाबी लोक साहित्य का विरसा!

तो पुरानी अनारकली की फूड स्ट्रीट में मांसाहारी भोजन की भरमार थी। ताजा पक रही तन्दूरी रोटियों और नानों की महक से पूरा बाजार महक रहा था। बीच-बीच में क्लैरेनेट वादक बम्बइया फिल्मों की धुनें बजाते आ जाते थे। ऐसा नहीं था कि यह हम भारतीयों को लुभाने के लिए था...यह क्लैरेनेट और अन्य गायक-वादक बम्बइया फिल्मों के ही गाने बजाते और सुनाते हैं। बम्बइया फिल्में भी तो हमारी आज की लोक-संस्कृति ही हैं। इन्होंने और इनके संगीत ने दोनों देशों को बहुत जोड़ा और मनोरंजन के संवेगों को एकाकार किया है। यही कारण है कि 57 वर्षों के अलगाव के बावजूद भारत और पाकिस्तान के बाशिन्दों को समान स्थितियों-घटनाओं' पर समान रूप से हँसी भी आती और आँसू भी। बम्बइया सिनेमा ने हमारी जन-संस्कृति को हमवार किया है।

हालाँकि पाकिस्तान का एक वर्ग बम्बइया सिनेमा की कल्चर से बहुत त्रस्त भी है, वह कहता है कि यह कल्चर अश्लीलता फैला रही है। वे गलत नहीं हैं, लेकिन वे कुछ कर नहीं सकते क्योंकि वे सैटेलाइट चैनल्स को नहीं रोक सकते। पाकिस्तान का यह वर्ग सिर्फ अपने नौजवानों के लिए चिन्तित नहीं है, वह भारत की रक्षा भी इस बम्बइया कल्चर से करना चाहता है।

तो आइए फिर लौट चलें सांस्कृतिक केन्द्र अलहमरा की तरफ जहाँ लेखकों का यह ऐतिहासिक सम्मेलन चल रहा है। एक खण्ड में पाकिस्तान की प्रख्यात नाट्य मण्डली 'अजोका' का शो या रिहर्सल भी चल रहा है और वहीं बीचवाले घास के मैदान में अमृतसर-जालंधर से आए नाट्य-कलाकारों का जत्था भी बैठा है।

लेखकों के सम्मेलन का स्वर है :

हालाँकि हमारी अपनी-अपनी निजी देशज पहचान है और हम सर्वसत्ता सम्पन्न सम्प्रभु देश हैं, हम प्रत्येक देश की सम्प्रभुता का सम्मान करते हैं और मानते हैं कि प्रत्येक देश के समाज और उसकी सरकार को अपना कार्यक्रम और भविष्य तय करने का एकांतिक अधिकार है, पर इन सातों देशों के हम लेखक लोग अपने इन देशों की आपसी समस्याओं और अख्तियार की गई राजनीतिक मुद्राओं को लेकर चिन्तित भी हो उठते हैं, क्योंकि हम सातों देश एक ही आसमान के नीचे रहते हैं, हम सब अपनी धरती की सहोदर नदियों के

हिस्सेदार हैं। दक्षिण एशिया के हमारे सातों देशों के मौसम समान हैं और मानसून ही हमारे देशों की खेती-बारी का समान जरिया है और सबसे बड़ी सच्चाई तो यह है कि हमारे सातों देशों की जनता समान रूप से गरीब, बेहाल और बदहाल है।

सातों देशों के लेखकों के पास एक ही अधिकार है कि हमारे देशों का राजनीतिक नेतृत्व जब भी एक दूसरे के खिलाफ बदले की कार्रवाई करे या उसकी घोषणा करे तो हम लेखक अपने-अपने देशों में युद्ध और खून-खराबे का खुला विरोध करें क्योंकि बमों और गोला-बारूद और जंगी सामान की खरीद में वह पैसा लगा दिया जाता है, जिससे हम बच्चों के लिए पुस्तकें, बीमार लोगों के लिए दवाइयां और भूख से मर रहे तथा गरीबी में पिस रहे मनुष्य के लिए अन्न और जरूरी चीजें खरीद सकते हैं। युद्धों की बेतहाशा खर्चीली एय्याशी और मारक हथियारों की होड़ हमारी आर्थिक व्यवस्था को जर्जर करती जा रही है। खासतौर से भारत-पाकिस्तान का आम समाज इस बर्बर सच्चाई का शिकार हुआ है और झूठी राष्ट्रीयता के नशे में अपने-अपने घावों को चाटते हुए, दूसरे के घावों को गिन रहा है। हमारी सरकारें बड़ी बेशर्मी से इसे राष्ट्रीय सुरक्षा का नाम दे रही हैं, और पड़ोसी देश से सुरक्षा के नाम पर वे अधिक हथियार खरीदते जाने को उचित ठहराती जा रही हैं...पर असलियत में देखा जाए तो युद्ध तो सरकारें या राजनीतिक सत्ता जीतती है, पर पराजय दोनों देशों की जनता की ही होती है! इसलिए हम अपने सातों देशों के लेखक अपनी गरीब जनता की पक्षधरता में खड़े होकर आपसी युद्धों का विरोध करते हैं और दुनिया को मौत की चपेट से बचाने के लिए परमाणु-शस्त्रों के विनाश की माँग करते हैं...

हम अमेरिका के पूँजीवादी नेतृत्व में एक ध्रुवीय हो गयी दुनिया की बर्बरता और भूमण्डलीकरण और बाजारवाद द्वारा किए जा रहे शोषण का प्रतिवाद भी करते हैं...हम शान्ति और विकास के लिए स्वयं को प्रतिबद्ध मानते हैं और जरूरी समझते हैं कि जहाँ भी सत्य का तिरस्कार हो या उसके साथ बलात्कार हो, हम सरहदों को भूलकर इंसानी शुभ के लिए निडर होकर अपनी समवेत आवाज बुलन्द करेंगे, क्योंकि हमारे सातों देशों में एक नई पर गलत तरह की राष्ट्रीयता और धर्म के पाखण्ड को प्रश्रय दिया जा रहा है जो अन्ततः किसी भी देश-समाज को राष्ट्रीयता के नाम पर तानाशाही की ओर ले जाता है।

...अब हमें एक बात भूल जानी चाहिए, क्योंकि अभी तक दुष्ट और बर्बर सत्ताओं-सरकारों से सच बोलने की इजाजत लेना जरूरी समझा जाता रहा है। हमें इस आदत से अब मुक्ति पानी है क्योंकि सदियों से यही परम्परा चली आ रही है, इसलिए प्रत्येक देश का लेखक सच बोलने से पहले यह सोचता है कि वह वापस अपने देश पहुँचेगा तो उसके साथ क्या सलूक होगा?

तो यह ऊँची आवाज में कहा गया कि सत्ता से पूछकर 'मुँह देखा' सच बोलने की परम्परा हमें आज, यहाँ और इसी वक्त समाप्त कर देनी चाहिए...

तो यही थी अलग-अलग देशों के लेखकों की समवेत आवाज़ और विद्रोही सृजनात्मक विचार!

भारत और पाकिस्तानः स्मृति और संस्कृति की परम्परा

(यह आलेख लाहौर कांफ्रेंस में प्रस्तुत और वितरित किया गया था)

मैं अपनी बात स्मृति की 'संस्कृति और उसकी परम्परा' से शुरू करना चाहता हूँ, जिसने हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को अन्दरूनी तौर पर आज तक जोड़े रखा है।

इसकी वजह यह है कि स्मृति की परम्परा, धर्म की परम्परा से कुछ ज्यादा ही प्रगाढ़ और मजबूत होती है। साहित्य खुद इस बात की गवाही देता है कि वह धर्म से कभी सीधे-सीधे नहीं जुड़ता, मगर उसकी यानी धर्म की अच्छाइयों को स्वीकार करते हुए, वह अपनी स्मृति की परम्परा से हमेशा जुड़ा रहता है। साहित्य न तो संस्कृति की परम्परा से कभी जुदा हुआ है और न कभी जुदा हो पाता है। स्मृति की इस परम्परा का एक बहुत बड़ा अंग है—भूगोल! व्यक्ति किसी भी धर्म, जाति, वर्ण, वंश और गोत्र का क्यों न हो—वह अपना जन्मस्थान यानी अपने नितान्त निजी भूगोल को कभी नहीं भूल पाता। दुनिया का कोई ऐसा लेखक नहीं, जो अपनी जन्मभूमि की 'स्मृति' को भुला सका हो। इस स्मृति का धर्म के साथ कोई रिश्ता-नाता नहीं होता। बड़े-से-बड़े लेखक-कवि के बचपन के जीवन में झाँककर देखिए, उसमें 'धर्म' नाम की चीज का एक कतरा भी नहीं मिलेगा। मिलेगा तो उसका अपना घर, छप्पर, पेड़-पौधे, नदी-पोखर, जगह-जगह से टूटी सड़क या रोशनी की लकीर की तरह बिछी पगडण्डी, खेत-खलिहान या अपने मोहल्ले की बस्ती, दोस्त और साथी, पशु-पक्षी, मौसम और उनकी खट्टी-मीठीं यादें।

इस वक्त राही मासूम रजा के क्लैसिक उपन्यास 'आधा गाँव' के उस अंश को आपके सामने रखने को जी चाहता है, जिसमें उपन्यास का एक किरदार जब युद्ध के मोर्चे से गाँव वापस आता है और उसे एक मजहबी बहस में विवश होकर शरीक होना पड़ता है तो वही बड़ी तल्खी, मगर शत-प्रतिशत सचाई और ईमानदारी से कहता है—'मोर्चे पर जब मौत सामने होती है तो मुझे (आदतन) अल्लाह तो याद आता है, पर सबसे ज्यादा मुझे अपना गंगौली गाँव और घर याद आता है, मुझे काबा याद नहीं आता। वह तो अल्लाह का घर है, वह उसे याद आता होगा...मुझे तो सिर्फ गंगौली का अपना घर याद आता है।'

सोचिए! आखिर इन्सान की यह कौन-सी बड़ी सचाई है, जो धर्म-मजहब की सच्चाई से भी बहुत ऊँची उठ सकती है और वह तब, जब मौत जैसी खूखार सचाई उसके सामने खड़ी होती है। आखिर मौत के आगे कुछ नहीं है, यदि धर्म या मजहब ही अन्तिम सत्य होता

तो 'आधा गाँव' के इस मुस्लिम पात्र को 'काबा' याद आना चाहिए था या किसी हिन्दू पात्र को बद्रीनाथ, केदारनाथ धाम, राम या कृष्ण के मन्दिर याद आने चाहिए, पर ऐसा निश्चय ही नहीं होता।

इस समय मुझे अध्योध्या की बाबरी मस्जिद-ध्वंस की घटना अनायास याद आती है। राम-जन्मभूमि अभियान में जो कारसेवक अयोध्या गए, उन पर गोलियाँ चली थीं। यह माना जा सकता है वे धर्मोन्माद में तो थे ही, उनमें राम के प्रति गहरी आस्था भी थी। जो मर गए वे अब इस धरती पर नहीं हैं। मौत के समय उनको क्या याद आया होगा, इस समय यह बताने वाला कोई नहीं है। मगर जो वहाँ उनके साथ थे और जो पुलिस की गोलियों की बौछार से बच गए थे, वे बता सकते हैं कि क्या उस वक्त उन्हें या मरने वालों को 'रामलला' याद आए? मुझे इस बात का पूरा यकीन है कि मरते वक्त उन्हें अपना गाँव और घर ही याद आया होगा। जो बच गए वे भी अपने घर, परिवार और गाँव को याद करते हुए वहाँ से भागे थे।

जेहाद के नाम पर आतंक फैलाने वाले गिरोह में शामिल लोगों को ही देखें, वे धर्म और मजहबपरस्ती के वशीभूत होकर बेगुनाहों को मार डालते हैं। या वे फिर जिन्हें अपना गुनाहगार समझते हैं, उनकी हत्या कर देते हैं। जैसे कि जैश-ए-मुहम्मद अर्थात पैगम्बर मुहम्मद की सेना। या कि 'लश्करे-तैयबा' यानी मजबह की पवित्र फौज। इनसे ज्यादा मजहब में आस्था रखने वाला भला कौन होगा, लेकिन जब मजहबी जेहादी मारे जाते हैं तो उनकी जेबों में मक्का-मदीने की नहीं, घर-गाँव और घर-परिवार वालों की तस्वीरें मिलती हैं।

मैंने आज तक दुनिया में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं देखा, जो पहले किसी से उसका धर्म-वर्ण या उसकी नस्ल या जाति पूछता हो फिर उससे दोस्ती करता हो। किसी की दोस्ती का दायरा सिर्फ अपने धर्मावलम्बियों तक सीमित नहीं रहता। यह एक जमीनी सचाई है। इस पर आपको यकीन करना ही पड़ेगा कि व्यक्ति की उम्र में धार्मिक या मजहबी इलाके बाद में आते हैं, पहले उसका आत्मिक रिश्ता अपने जन्म-स्थान और अपनी आसपास की चीजों से ही स्थापित होता है। धर्म जब धीरे-धीरे मनुष्य के मन में जगह बनाने लगता है, तब भी वह अपनी इन स्मृतियों को खंडित होने से बचाए रखता है। 'धर्म और स्मृति' के बीच कोई द्वन्द्व नहीं होता, लेकिन एक अलग प्रकार की अपनी वैधानिक सत्ता के कारण धर्म, व्यक्ति को जकड़ लेता है, क्योंकि उसका विधि-विधान होता है। स्मृति का कोई विधि-विधान या कर्मकाण्ड नहीं होता। इसलिए संस्कृति-निर्माण में धर्म की अपेक्षा स्मृति की भूमिका का अंशदान ज्यादा होता है। संस्कृति लिखी नहीं जाती और न लिखवाई जाती है। वह स्वत: निर्मित होती चलती है। वह मिट्टी, हवा, पानी और रक्त की तरह धमनियों में प्रवाहित रहती है, यही संस्कृति साहित्य का हिस्सा बन जाती है। साहित्य अपने इंसानी अनुभव ओर संवेदना से सांस्कृतिक सोच ओर उसके मूल्यों को उदात्त और वृहत्तर बनाता रहता है। संस्कृति मनुष्य की सामाजिक और सार्वजनिक चेतना का नाम है। उम्र का एक पड़ाव आते ही धर्म व्यक्ति की निजी सम्पति बन जाता है। यहाँ तक कि अन्तिम समय में एक ही धर्म को मानने वाले दो व्यक्तियों का धर्म भी एक-दूसरे के काम नहीं आता, वह नितान्त निजी बन जाता है मगर अन्तिम साँस ले रहा व्यक्ति अपनी स्मृतियों के बल पर अपनी मुक्ति की

कामना करता है। इसलिए, मैं स्मृति की संस्कृति और स्मृति की परम्परा को सांस्कृतिक परंपरा की आधारभूमि मानता हूँ जिसे मैं हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सांस्कृतिक विरासत की जड़ों के रूप में देखता हूँ।

धर्म के स्वरूप, उसके सिद्धान्त को लेकर व्याख्याएँ बदलती रहती हैं। धर्म स्थापित होते रहे हैं और उनका उजड़ना भी कम नहीं हुआ है, मगर उनकी अच्छाइयों को, जो मनुष्य के लिए शुभ मानी गयीं, हमारी सभ्यता और संस्कृति ने उन्हें अंगीकृत कर, आत्मसात कर लिया है। संस्कृति और सभ्यता का अधिकांश इतिहास मानवीय स्मृतियों, चिन्ताओं और उसके स्वप्नों से निर्मित होता है। कोई भी संस्कृति हो, पाश्चात्य या पौर्वात्य, उसकी धमनियों में 'स्मृति का रक्त' प्रवहमान दिखाई देता है।

दोस्तो! उदाहरण के लिए मैं अपने एक पुराने मित्र, जो बहुतों के भी मित्र थे—तेग इलाहाबादी, मुझे उनके जीवन का प्रसंग यहाँ याद आता है। पहले मैं यह बता दूँ कि तेग इलाहाबादी थे कौन! तो सुनिए! उनका असली नाम था-मुस्तफा जैदी। वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मुझसे एक साल सीनियर थे। आप जानते ही हैं कि भारत के दो ऐसे प्रधानमन्त्री हुए हैं, जिन्होंने बहुत थोड़े समय के लिए शासन किया। मेरा इशारा जनाब वी. पी. सिंह और चन्द्रशेखर की तरफ है। जनाब तेग इलाहाबादी इनके सहपाठी थे। तेग इलाहाबदी यानी मुस्तफ़ा जैदी साहब प्रतिभावान तो थे ही, उनमें अद्भुत नेतृत्व और वक्तृत्व क्षमता थी जिसके आगे वी. पी. सिंह और चन्द्रशेखर पानी भरा करते थे। पर, न जाने क्या हुआ कि उन्होंने विभाजन के दस साल बाद भारत की सरजमीं को छोड़ने का निर्णय लिया और पाकिस्तान चले गए। पाकिस्तान में उनका खूब खैर-मकदम किया गया और सिविल सर्विस में उन्हें आला अफसर की नौकरी भी मिली। बाद में वे कराची के कमिश्नर बन कर रिटायर हुए।

लेकिन, कराची का वह कमिश्नर, जिसे सब मुस्तफा जैदी के नाम से जानते थे-एक शायर भी था। इस शायर का नाम आप जान ही चुके हैं—यानी तेग इलाहाबादी। उन्होंने अपनी मजहबी-आत्मा के कहने पर पाकिस्तान जाना ठीक समझा।

तेग इलाहाबादी उर्फ मुस्तफा जैदी ने पाकिस्तान सिविल सर्विस में रहकर क्या-क्या कारनामे किए, इसकी जानकारी मुझे नहीं है, मगर मैं जब उनकी शायरी से रूबरू हुआ तो मेरे सामने स्मृति की परम्परा का एक नया अध्याय और खुल गया। कराची में बैठकर शायरी करने वाले 'तेग' अपने नाम के आगे 'इलाहाबादी' होने की स्मृति को कभी नहीं दफन कर पाए। इसका पुख्ता सुबूत उनकी शायरी ही है। वे लिखते हैं—

कोई उस देश का मिल जाए तो इतना पूछें
आजकल अपने मसीहा- नफसां कैसे हैं।
आँधियाँ तो सुना उधर भी आईं
कोपलों कैसी हैं शीशों के मकाँ कैसे हैं।

इस शायरी में तेग इलाहाबादी उर्फ मुस्तफा जैदी, जो कभी कराची, पाकिस्तान के कमिश्नर भी रहे, की जख्म खाई अतीत की स्मृतियाँ हैं। आगे देखें—तेग इलाहाबादी साहब क्या कहते हैं—

कई समन्दर पार से आई गोरी पिया को देस

रूप विदेशी लेकिन जीवन पूरब का सन्देस।
लम्बी-लम्बी पलकें जिन में तलवारों की काट
नीली-नीली आँखें जैसे जमुना जी का घाट।

देखना यह जरूरी है कि मुस्तफा जैदी, कमिश्नर कराची पाकिस्तान उर्फ तेग इलाहाबादी को पाकिस्तान की सिन्ध, रावी या चनाब नदियों के घाट क्यों याद नहीं आते? उन्हें जमुना नदी का नहीं 'जमुनाजी' का घाट क्यों याद आता है! यही स्मृति है जो धर्म की स्मृतियों से बहुत ऊपर उठकर संस्कृति बन जाती है। स्मृति की इस सांस्कृतिक विरासत और इंसानी परम्परा को यदि आप पहचान सकेंगे, तभी आप इस सच्चाई को समझ सकेंगे कि भारतीय संस्कृति में तमाम संस्कृतियाँ साँस लेती हैं, उसमें बौद्ध, जैन, इस्लामी, सिख, ईसाई धर्मों की, ईश्वरवादी और अनीश्वरवादियों की संस्कृतियाँ भी शामिल हैं। उसी तरह हिन्दू संस्कृति भी भारतीय संस्कृति का एक हिस्सा है। वह भारतीय संस्कृति नहीं है।

मैं यह बार-बार कहना चाहता हूँ कि किसी भी बड़ी और स्थिर संस्कृति का निर्माण मूलत: 'स्मृति' से ही होता है। वह धर्म की परंपरा से अधिक जहीन, महीन और प्रगाढ़ होती है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति को इसी स्मृति की परम्परा ने जीवित रखा है। इसलिए यह सहज ही कहा जा सकता है कि वैदिक जीवन पद्धति में, जो पुरोहिताई जड़ता और अपकर्ष आया था, वह धर्म-पद्धति और धर्म की धारणा को अन्तिम रूप से नष्ट कर सकता था, पर भारत के भूगोल और दर्शन की स्मृतियों ने ही बौद्ध और जैन कालीन वेद-विरोधी दार्शनिक धारणाओं को जन्म दिया, जो कालान्तर में भारत की सांस्कृतिक स्मृतियाँ बनकर आज भी भारतीय संस्कृति के रूप में हमारे पास सुरक्षित हैं। भाषाएँ इन स्मृतियों के संरक्षण और संग्रहण का मुख्य माध्यम रही हैं। भाषाएँ ही जातीय, भौगोलिक और ऐतिहासिक अनुभवों का भंडारण संस्मरणों के रूप में करती रहती हैं। भाषा के संग्रहालयों में संस्मरणों की यह संपदा भरी नजर आती है। यही भाषाई संपदा बताती है कि चाहे कोई भी संस्कृति हो, उसकी धमनियों में धर्म का उन्मादी गंदला रक्त नहीं, स्मृतियों का निरन्तर शुद्ध होता उजला रक्त ही प्रवाहित होता है।

इसी सत्य का साक्ष्य देकर शायर और चिन्तक स्वामी वाहिद काजमी साहब ने एक बहुत बड़ी गुत्थी सुलझा दी। मैं यहाँ स्पष्ट कर दूँ कि ये वही स्वामी वाहिद काजमी हैं, जो समय-समय पर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच के सांस्कृतिक सम्बन्धों को बेहतर बनाने की दिशा में काम करते रहते हैं और वे मुझे इन स्रोतों की जानकारी देना भी नहीं भूलते। उन्होंने हिन्दुस्तानी स्मृतियों के पाकिस्तान के एक शायर जनाब अब्दुल अजीम 'खालिद की शायरी से रूबरू कराया है। खालिद साहब ने पाकिस्तान में रहकर 'हिन्दी शायरी' में काफी शोहरत हासिल की है। खालिद साहब ने मज़हबी इलाके में रहकर उर्दू में नहीं वरन हिंदी में पैगम्बर हजरत मुहम्मद के दिव्य व्यक्तित्व को लिखा और लोगों के सामने पेश किया। यह कोई मामूली बात नहीं है कि पाकिस्तान में रहकर एक शायर अपनी भावनाओं को हिन्दुस्तानी मुहावरों और कृष्ण के प्रतीकों में व्यक्त करता है। इस तरह वे पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के बीच स्मृतियों के एक मुकम्मिल सांस्कृतिक पुल का निर्माण करते हैं।

जनाब अब्दुल अजीज 'खालिद' साहब का परिचय बस इतना है कि उनका जन्म

भारत के जिला—जालंधर, सतलज नदी के किनारे बसी एक तहसील नकोदर में 14 जनवरी, 1927 ई. को हुआ था। भारत विभाजन के समय वे पाकिस्तान चले गए। मगर, ताज्जुब की बात है कि जब वे हजरत मुहम्मद की जीवनी लिखते हैं तो उन्हें भारत की सांस्कृतिक तथा भाषाई स्मृतियों से कोई अलग नहीं कर पाता। उन्होंने शायरी के माध्यम से हजरत मुहम्मद की जो स्तुति लिखी है, पहले आप उसे ही देखें—

तू दीपक, में काजल, तू दरपन मैं सीसा,
मैं कालिख, तू परभात की लालिमा है।

जो गोकुल में गोविन्द से फाग खेले,
वे निरलाज नारी नहीं, अप्सरा है।

है हके-सिरूह शान्ति ओम् तत्सत्,
अजब दिलकुशा बाँसुरी की सदा है

यहाँ 'हके सिरूह' ही प्रयोग में आ सकता था, जिसका अर्थ है—सत्य की दैवी घोषणा। यह इस्लामी दर्शन का अर्थबद्ध शब्द है और सत्य की यह दैवी घोषणा, उन्हें बाँसुरी की दिल खींच लेने वाली आवाज़ की तरह सुनाई पड़ती है और उनके सत्य के घोष में 'शान्ति ओम् तत्सत् की अनुगूँज समाई हुई है।

इस्लाम का उदय सातवीं सदी में हुआ था-सोचिए ज़रा! कि ढाई हजार साल पहले की ये सांस्कृतिक स्मृतियाँ पाकिस्तानी शायर जनाब अब्दुल अजीज 'खालिद' के दिलो-दिमाग और पूरे वजूद में क्यों खनकती हैं? और वह भी पाक पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब को लेकर। स्वामी वाहिद काजमी साहब मुझे बताते हैं कि 'खालिद' साहब का बृहद्ग्रन्थ-'फारकलीन' (अरबी भाषा में हजरत मुहम्मद साहब का एक विशेषण) को उन्होंने गौर से पढ़ा है। सन् 1974 ई. में लाहौर से प्रकाशित इस ग्रन्थ में 308 पृष्ठ हैं। इसके डिमाई आकार में तीन संस्करण छप चुके हैं। इसमें एक ही बहर तथा काफिए में 1500 से अधिक अशआर हैं। इनमें हिन्दी कविता और उसकी भाषा के अंश इस प्रकार शामिल हैं, मानो उर्दू अशआर की तरंगों पर डोलते हुए इन का हृदय हिन्दी कविता की तरंगों में बहने लगता है...इसे पढ़ते हुए खालिद साहब के मन-मन्दिर में विराजमान, कृष्ण के प्रति स्नेह और लगन की जो कभी तेज तो कभी मंद आँच आहिस्ता-आहिस्ता सुलगती दिखाई देती है, वह प्रीत प्यासी पुजारिन—आँखों के सामने साकार होने लगती है, जो कभी सूर तथा कभी रसखान आदि कृष्ण-काव्य धारा के कवियों और प्रेममार्गी सूफी सन्तों की वाणी से मुखरित होकर, कभी अपनी अनकही मार्मिक व्यथा सुनाती रही है, तो कभी अपने साँवले-सलोने कृष्ण-कन्हैया पर हज़ार जान से कुर्बान होती रही है।

...तो खालिद साहब की यह दक्षिण एशिया के इस्लाम की वह सांस्कृतिक स्मृति और उसका आध्यात्मिक दर्शन वैदिक ऋचाओं, कुरान की आयतों और उपनिषदों के कथनों के साथ-साथ सूफी-सन्तों और सिद्ध-साधुओं के अलौकिक अनुभवों की स्मृतियों और प्रतीकों से भरी पड़ी हैं। यह धर्म नहीं, यह संस्कृति है। इससे खालिद साहब का इस्लाम-धर्म खंडित नहीं होता। यहाँ तक कि हजरत मुहम्मद की जीवन-कथा का एक पौराणिक प्रसंग है, जहाँ इस्लाम का यह पाक पैगम्बर खुदा से मिलता है। वहाँ की जन्नत का नज़ारा आप भी देखिए

—

कपोल किश्वरे-कश्मीर, नैन नैनीताल,
कुसुम के खेत, किनारे खिले हैं नील पद्म।

...और यह सब वह शायर लिख रहा है, जो अपने सूबे और जिला-जालंधर, तहसील-नकोदर को छोड़ कर पाकिस्तान स्थाई रूप से बस गया है। शायरी उनका पेशा नहीं था। वे वर्षों तक लाहौर में इनकम टैक्स विभाग के डिप्टी कमिश्नर भी रहे। सरकारी नौकरी के बावजूद खालिद साहब की 27 के करीब शायरी की किताबें छप चुकी हैं। पाकिस्तान की कई पत्र-पत्रिकाओं ने इनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर विशेषांक भी निकाले हैं। यह एक महत्वपूर्ण घटना है, अदबी घटना, जो पाकिस्तान में घट रही है और हिन्दुस्तान उसे सुन रहा है—बड़े गौर से; पूरे इत्मीनान के साथ। इससे साबित होता है कि पाकिस्तान एक राजनीतिक व धार्मिक राष्ट्र हो सकता है, पर उसे जब भी अपनी सांस्कृतिक विरासत की जरूरत पड़ेगी तो उसे अपनी स्मृतियों की ओर लौटना होगा। मैं इस तथ्य को आप सबके सामने रखते हुए पूरे आत्मविश्वास के साथ यह कह सकता हूँ कि कोई भी फिरकापरस्त सोच हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान की संस्कृति का बँटवारा नहीं कर सकती।

भारत और पाकिस्तान के बीच समझौते की बात चल रही है। इसके बावजूद उसके बीच अभी संशय की सीमा-रेखा ध्वस्त नहीं हुई है। राजनयिक वार्तालाप के दौर चलते रहना चाहिए। अविश्वास बना रह सकता है, लेकिन सांस्कृतिक परम्पराएँ विश्वास का अपना इतिहास खुद निर्मित करती हैं। सांस्कृतिक सम्मिलन और अपनी इन्सानी जड़ों को पाकिस्तान की कहानी और कविता जिस शिद्दत और ईमानदारी के साथ पेश करती हैं, वह देखने योग्य है। इसकी जानकारी भारतीय पाठकों और नागरिकों को पूरी तरह से नहीं है।

पाकिस्तान और भारत में जो कुछ लिखा गया और लिखा जा रहा है, वह इस सच्चाई को 'सच' साबित करता है कि धर्म तो एक मिनट में बदला जा सकता है, लेकिन संस्कृति के बदलने में सदियाँ लगती हैं। आज दोनों देश अपने राजनीतिक अलगाव के लिए बेशक अपने मज़हब को जिम्मेदार बनाते रहें, पर हम दोनों देशों की कविता और साहित्य यह बताता है कि वह धर्म को सीधे-सीधे तो नहीं, फिर भी, धर्म के नाम पर अपनी स्मृति की परम्परा को नहीं भूल सकता। स्मृति की परम्परा हमेशा धर्म से ऊपर रही है। पाकिस्तान के मशहूर विद्वान, आलोचक और शायर वजीर आगा और भारत के मशहूर हिंदी उपन्यासकार और शायर राही मासूम रजा पूछते हैं कि 'जब हम भारतीय संस्कृति, सभ्यता या परम्पराओं की बात करते हैं तो भारत की सीमा कहाँ निश्चित होती है? क्या सिर्फ वहीं तक जाकर भारत की सीमा रुक जाती है, जिस पर 15 अगस्त, 1947 को अंग्रेजों ने एक लकीर खींच दी थी? मैं इसे नहीं मानता। अब, अगर राजनीतिक बँटवारा, परम्परा का बँटवारा नहीं, तो भारत की परम्पराएँ उस की भी हैं, जिसे पाकिस्तान कहते हैं।...क्योंकि अगर संस्कृति और परंपराओं की दुनिया सन् 1947 में बँट गयी थी तो हमारे भारत का राष्ट्रीय गीत अल्लामा इकबाल का 'सारे जहाँ से अच्छा...' और गुरुदेव टैगौर के राष्ट्रीगान—जन-गण मन अधिनायक...में पंजाब, सिन्ध, गुजरात, मराठा, द्रविड़ उत्कल, बंगा के साथ सिंध का जिक्र मंजूर नहीं किया जाता। आधा पंजाब और आधा बंगाल तो भारत में है, पर सिन्ध कहाँ है? भारत में तो अभी तक कोई सिन्ध प्रदेश नहीं है। इसी

राष्ट्रगीत की गवाही पर मैं पाकिस्तान को केवल एक राजनीतिक इकाई मानता हूँ, सांस्कृतिक इकाई नहीं। इसका कारण यह है कि परम्परा धर्म नहीं है कि कलमा पढ़ लेने या वैदकि शुद्धि करा लेने से परम्परा बदल जाए। हवाओं को कलमा नहीं पढ़वाया जा सकता है और मानसून की बारिश की वैदिक शुद्धि नहीं की जा सकती है।'

यहाँ अब सुरेश नीरव के हवाले से मैं यह दर्ज कर देना जरूरी समझता हूँ कि पाकिस्तान का पहला राष्ट्रगीत हफीज जालंधरी ने नहीं बल्कि (एक हिंदू) जगन्नाथ आज़ाद ने लिखा था। सुरेश नीरव द्वारा लिखित और कादम्बिनी मासिक पत्रिका के अक्तूबर, 2005 के अंक में प्रकाशित इस आलेख के अंश हैं :

जब हिन्दुस्तान, पाकिस्तान के बंटवारे को स्वीकार कर ही लिया गया तो पाकिस्तान के कायदे आजम मोहम्मद अली जिन्ना के दिमाग में यह बात थी कि पाकिस्तान का कौमी तराना (राष्ट्रगीत) क्या हो? क्या उर्दू साहित्य के पन्नों में दर्ज किसी कविता को राष्ट्र गीत के रूप में स्वीकार किया जाए या फिर उस दौर के प्रतिष्ठित उर्दू शायरों में से किसी से राष्ट्रगीत लिखने को कहा जाए? उनकी निगाहें कहीं बहुत दूर तक देख रही थीं। शायद उनके मन में यह बात भी थी कि भले ही पाकिस्तान का निर्माण मजहबी आधार पर किया गया हो मगर पाकिस्तान का संविधान और उसका राष्ट्रगीत अवश्य ही धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए। इसी सोच के तहत उन्होंने अपने एक करीबी दोस्त से कहा, "मेरी ख्वाहिश है कि पाकिस्तान का कौमी तराना कोई हिन्दू शायर लिखे जिसका उर्दू पर पूरा अधिकार हो।"

फैज—जैसे एक-से-एक प्रतिष्ठित शायरों को छोड़कर किसी हिन्दू शायर को ढूँढ़ने का प्रस्ताव निश्चित ही चौंकानेवाला था। दूसरी बात यह कि जब तमाम हिन्दू पाकिस्तान छोड़कर हिन्दुस्तान की तरफ रवाना हो चुके हों और हो रहे हों तो भला कौन-सा हिन्दू शायर पाकिस्तान में उपलब्ध होगा? मगर मशहूर शायर डॉ. जगन्नाथ 'आजाद' का नाम सामने आया तो समस्या का समाधान हो गया। इतिफाक से जगन्नाथ 'आजाद' उन दिनों भी तमाम साहित्यिक मित्रों के आग्रह पर पाकिस्तान में ही थे। पाकिस्तान भले ही नया मुल्क बन गया हो मगर 'आजाद' के पूर्वज और खुद वे वहीं पैदा हुए थे, बड़े हुए थे और वहीं पढ़े-लिखे थे। उनका सब-कुछ तो वहीं था। वह अपनी जमीन छोड़कर क्यों जाते?

9 अगस्त, 1947 की दोपहर, लाहौर रेडियो स्टेशन का आफिस। जगन्नाथ 'आजाद' अपनी शायरी की रिकार्डिंग के लिए वहाँ पहुँचे। तभी जिन्ना साहब का संदेश लिये हुए उनके एक दोस्त वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने बताया कि कायदे आजम की मंशा है कि पाकिस्तान का राष्ट्रगीत आप लिखें। जब जगन्नाथ 'आजाद' ने पूछा, "आखिर उन्होंने मुझे ही क्यों चुना?" तो इस बात पर संदेश लेकर आये सज्जन का जवाब था, "आप इस योग्य हैं, नामी हैं, यह तो हुई पहली बात, फिर आप हिन्दू हैं, यह है दूसरी बात। उन्हें उर्दू के हिन्दू शायर की ही तलाश है।"

इस तरह जगन्नाथ 'आजाद' ने पाकिस्तान का पहला राष्ट्रगीत लिखा और उसे जिन्ना साहब के पास भेज दिया। कायदे आजम को यह कलाम बेहद पसन्द आया और इसे कौमी तराना घोषित कर दिया गया। सारी पाकिस्तान की जनता ने रेडियो कराची से अपने पहले कौमी तराने को सुना...।

ऐ सरजमीं-ए-पाक, ज़र्रे तेरे हैं

आज सितारों से ताबनाक!

इस राष्ट्रगीत को लिखनेवाले जगन्नाथ ‘आजाद’ 15 दिसम्बर 1918 को पाकिस्तान के पंजाब प्रान्त के इसालेख गाँव में, मशहूर उर्दू शायर तिलोक चंद ‘महरूम’ के घर पैदा हुए थे। प्रारंभिक शिक्षा गाँव में पूरी करने के लिए बाद वह रावलपिण्डी आ गये और उन्होंने यहीं से इण्टरमीडिएट किया। 1937 में रावलपिंडी के ही गार्डन कॉलेज से उन्होंने बी. ए. किया और पंजाब यूनिवर्सिटी से एम. ए. करने के बाद उर्दू पत्रिका ‘अदबी दुनिया’ से जुड़ गये। यहीं से उनकी साहित्यिक यात्रा शुरू हुई। उनकी लोकप्रियता और प्रतिष्ठा का अन्दाजा तो इसी से लगाया जा सकता है कि उन्हें खुद पाकिस्तान के कायदे-आजम ने राष्ट्रगीत लिखने के लिए आमन्त्रित किया। यह बात और है कि जिन्ना के देहान्त के बाद वहाँ की सरकार ने राष्ट्रगीत भी बदल दिया और दूसरा राष्ट्रगीत हफीज जालंधरी से लिखवा लिया। मगर डेढ़ साल तक पाकिस्तान में राष्ट्रगीत का दर्जा जगन्नाथ ‘आजाद’ की रचना को ही मिला जो मोहम्मद अली जिन्ना की सोच के एक खामोश आयाम की तरफ एक अर्थवान इशारा जरूर करता है।

जिन्ना के देहान्त के बाद जगन्नाथ ‘आजाद’ ने पाकिस्तान छोड़ दिया और हिन्दुस्तान आकर वे दिल्ली के उर्दू अखबार ‘मिलाप’ के सहायक सम्पादक बन गये।

बहरहाल, राही मासूम रजा की सोच के आधार पर पाकिस्तान की शायरी को देखा-समझा और इसी कसौटी पर कसा जाए तो सचाई खरे सोने की तरह चमकती दिखाई देती है। वे कहते हैं कि 14 अगस्त, 1947 (पाकिस्तान की आजादी की तारीख) की आधी रात में जिन लोगों को उनके पूछे बगैर पाकिस्तानी बना दिया गया था, उन्हीं में से सबसे बड़े शायर फैज अहमद फैज भी थे। वे पाकिस्तान चले गए थे, मगर उनकी शायरी में अभी तक हिन्दुस्तान और पाकिस्तान एक हैं। उनकी शायरी का मिजाज बिल्कुल नहीं बदला। विभाजन के बाद भी। यदि फैज भारत के नागरिक बने रहते तो भी वही और वैसी ही शायरी करते जैसी वे पाकिस्तान में रहकर कर रहे हैं।”

राही ने यह बड़े मार्के की बात बताई है कि जब हैदराबाद में उर्दू कांफ्रेस हुई तो उसके लिए फैज साहब ने चार लाइनों का एक पैगाम भेजा था, जो इस प्रकार है—बुए कातिब है कि जिंदा है कि मयखाना है, इन दिनों सूरते बरबादिए याराँ कया है?

स्मृति की संस्कृति की एक और मिसाल मैं आप लोगों के समक्ष रखना चाहता हूँ। आप जब साहित्य पढ़ना चाहते हैं तो अक्सर अखबरों में साहित्यिक परिशिष्ट जरूर देखते हैं। भारत की कोई भी गंभीर पत्रिका या अखबार का रविवारीय परिशिष्ट ग़जल या गीत को प्रकाशित किए बगैर शाया नहीं होता। ठीक इसी प्रकार पिछले दिनों तक पाकिस्तान का कोई भी रिसाला या कोई पत्रिका दोहों और गीतों के बगैर नहीं छपता था। पाकिस्तान के मशहूर शायर निगार सहबाई का एक कविता संकलन, जिसका नाम ‘जीवन दर्पन’ है, पिछले दिनों छपकर आया। क्या कोई सोच सकता है कि पाकिस्तान में हिंदी यानी भारत के ये शब्द सुने या मंजूर किए जा सकते हैं, जो इनके कविता संकलन में आए हैं। थोड़ी देर के लिए यह उदाहरण यहीं स्थगित करता हूँ और पाकिस्तान के ही दूसरे मशहूर शायर

सहबा अख्तर के इन दोहों को आपके सामने रखता हूँ।

अन्तरयामी के दर्शन को अन्तरज्ञानी जाए,
सहबा की बनबास से कोई राम नहीं बन पाये?

बाँसुरी हाथ में पकड़े मुँह पे छिड़के नीला रंग,
सब ही किशन बनें तो राधा नाचे किसके संग।

उनके लिए हर भोर रुपहली साँझ सुनहरी आए,
जिनके घर में लक्ष्मी नाचे दुर्गा दीप जलाए।

पल में ओस समान वो आँखें पल में अगिनीकन,
उन पे प्यारी आँखें डाल के क्या लेगा नादान?

इक इक अंग उजाला नाचे किरनें चूमें गात
हम सूरजवंशी होते तो करते तुमसे बात।

स़हबाजी क्यों मन की गुफा में बैठे रहे चित साध,
आओ चन्दन रात के धन को बाँट लें आधो-आध।

कब वो स्वयंवर दिन आएगा होगा अन्त वियोग,
सपनों की संजोगिता तुमसे कब होगा सजोग।

यह है पाकिस्तानी शायर सहबा अख्तर की उर्दू शायरी, जिसकी भाषा, जिनके प्रतीकों में स्मृतियों के अक्स साफ-साफ दिखाई देते हैं। उनका सूफियाना कलाम जो 'संजोगिता' से 'संजोग' के लिए बेकरार है, इसमें चली आती भारतीय परम्परा ही नहीं, पौराणिक काल के वे सारे पात्र मौजूद हैं, जो भारतीय स्मृति में समा चुके हैं। अब यहाँ राम, कृष्ण, राधा-कृष्ण की बाँसुरी, लक्ष्मी और दुर्गा, अर्जुन के अग्निबाण को क्या कहेंगे? सुबह नहाने जाती औरतों और गुफाओं में बैठकर साधना करने वाले अन्तरयामी तपस्वियों को सहबा अख्तर की स्मृतियों से कैसे अलग कर सकेंगे?

शब्द का सच यही है कि स्मृति की परम्परा से साहित्य कभी छुटकारा नहीं पा सकता। स्मृति की यह परम्परा धर्म या मजहब की परम्परा से बहुत ताकतवर, पुरानी और ज्यादा कुदरती है। यह परम्परा धर्म-विरोधी नहीं, यह धर्म के ऊँचे-उदात्त इंसानी धर्म की परम्परा है।

धर्म को मनुष्य ने ईजाद किया है और अपने आदिम दौर में प्रकृति की कुदरती कठिनाइयों, घातो-अपघातों, मुश्किलों और मृत्यु को वशीभूत करने के लिए इस दौर के मनुष्य ने अपने हित में ईश्वर की परिकल्पना करके पहला क्रान्तिकारी विचार विकसित किया है। मनुष्य की इस क्रांतिकारी परिकल्पना से उद्भूत इस ईश्वर ने सदियों तक बहुत साथ दिया। शुरू में तो मनुष्य के कबीले की पहली सामाजिक और कल्पनाशील दुनिया का एकमात्र नायक ईश्वर ही रहा होगा, पर जैसे-जैसे वर्चस्व और सुविधाओं के सवाल पैदा हुए होंगे तो मनुष्य का पहला कबीला विभाजित हुआ होगा और तभी दूसरे कबीले को अपने अलग ईश्वर की जरूरत पड़ी होगी। ईश्वर के नाम पर अपने ईश्वर को स्थापित करने

के लिए मनुष्य की कल्पना शक्ति ने तब जबर्दस्त काम किया होगा और तब ईश्वर अपने कबीले के परमेश्वर के रूप में रूपायित हुआ होगा। बहु-ईश्वरवाद मनुष्य के विकास का अगला चरण रहा होगा, जिसने इंसान का बहुत बेहूदा बँटवारा किया, जिसे इस्लाम के एकेश्वरवाद ने सातवीं-आठवीं सदी के आदि शंकराचार्य को प्रभावित किया और उन्होंने तब अद्वैतवाद का दार्शनिक और आध्यात्मिक आधार दिया, लेकिन साहित्य को हमेशा इंसान के हक में, इस दार्शनिकता और आध्यात्मिकता को अपनी सचाइयों और यथार्थ के सहारे सामना करना पड़ता है। हालांकि धर्म सामाजिक आचरण को लगातार प्रभावित करता है, परन्तु वह मूलतः मनुष्य की मृत्यु के समय ही काम आता है। प्रत्येक मनुष्य अपने धर्म के साहचर्य में ही मरना चाहता है, परन्तु मौत के समय एक ही धर्म के प्रत्येक व्यक्ति का धर्म नितान्त निजी हो जाता है। यहाँ तक कि एक ही धर्म को मानने वाले पति-पत्नी भी मृत्यु के समय अपनी मोक्ष की आकांक्षाओं को लेकर एक नहीं रहते। उनकी व्यक्तिगत स्मृतियाँ अलग-अलग हो जाती हैं। वे अलग-अलग स्मृतियों को लेकर मृत्यु का वरण करते हैं और तब धर्म व्यक्ति की मृत्यु का नितान्त निजी वाहक होता है। इसलिए जीवित मनुष्य, धर्म सम्प्रदाय के लिए मौजूद होते हुए भी अपने दैनंदिन आचरण और जीवन मूल्यों को संस्कृति और स्मृति के आधार पर तय करता है।

संस्कृति, मनुष्य के जीवन और मृत्यु के अन्तराल को भरती है। अन्ततः संस्कृति ही मनुष्य के काम आती है, क्योंकि यह मनुष्य की सार्वजनिक सम्पदा होती है, जब कि धर्म सार्वजनिक होते हुए भी व्यक्ति की निजी सम्पदा बन जाता है। संस्कृति को धर्म निर्मित नहीं करता, उसे मनुष्य की स्मृति ही बनाती है। इसलिए धर्म के कौमी सिद्धान्त के तहत, जो लोग विभाजन के समय पाकिस्तान चले गए थे या जिन्होंने बांग्ला देश को अलग किया, उनके यहाँ रोटी का अकाल बेशक न पड़ा हो, मगर संस्कृति का अकाल जरूर पड़ा, और वह इतनी शिद्दत के साथ महसूस किया जाने लगा कि वे अपनी सांस्कृतिक जड़ों की तरफ लौटने लगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक विभाजन के बावजूद हमारी परम्पराओं, संस्कृतियों और सभ्यताओं का विभाजन नहीं हो सका। तभी तो पाकिस्तान का एक अजीम शायर अपना उपनाम (तखल्लुस) 'माधौ' रखता है और कहता है—

> जब बारिश बरसी लोग बहुत ही रोये,
> हम मन्दिर में सोए।

मैं यहाँ बता दूँ कि पाकिस्तान में बहुत से मन्दिरों को रिहायशी बनाया गया क्योंकि वहाँ उनकी जरूरत नहीं रह गयी थी, देखभाल करनेवाला कोई नहीं था। रावलपिण्डी के दशहरा मैदान के मन्दिरों में बेघरबार लोगों और गरीबों का रिहायशी कब्जा है, जो गलत भी नहीं है, क्योंकि ईश्वर ने जरूरत से ज्यादा जगह घेर रखी है। मन्दिरों के खंडहरों में आज भी लोग पनाह लिए हुए हैं और उनके घरेलू मवेशी आदि बँधे रहते हैं। वहाँ कुछ नई मस्जिदें बन गई हैं, मगर पाकिस्तानी शायर 'माधो' को मन्दिर में जाकर सोने से सांस्कृतिक सुकून मिलता है। भारत का सांस्कृतिक सुकून पाकिस्तान की टूटी-टूटी और बिखरी यादों की वजह से लगातार बेचैन और तार-तार है। हम भारतीय लेखक आपके बिना अधूरे हैं।

इसी समय मुझे पाकिस्तान के एक और शायर असद मुहम्मद खाँ याद आ रहे हैं।

उनकी शायरी को मैंने बड़ी बेचैनी से साथ पढ़ा। उन्होंने लिखा है—

मैं बिंध्याचल की आत्मा
मेरे माथे चंदन. चाँदनी
मेरी माँग साँझ की धूप
मैं चित्रकार का अन्तिम चित्‍
कला का अन्तिम रूप!

विंध्याचल पाकिस्तान के नक्शे में कहीं नहीं है। शायर को पेशावर, रावलपिण्डी, बलूचिस्तान की पहाड़ियाँ याद आनी चाहिए थीं, मगर उनको 'बिन्ध्याचल' याद आता है। क्यों? इसलिए कि यह धर्म नहीं है। यह मनुष्य की कुदरती स्मृति है और उसी चीज को पाकिस्तान के शायर निगार सहबाई ने इस तरह लिखा है—

रास्ता न रोको नटखट श्याम
सौ सौ बार करुँ परनाम
आँचल न खैंचो गोकुल को वासी
ही जाऊंगी मैं बदनाम!

ज़रा इस बात को गहराई से सोचें! यह कौन-सी इन्सानी सांस्कृतिक स्मृति की सचाई है, जो दो कौमों के धार्मिक बँटवारे के बाद भी बँट नहीं पाती है। पाकिस्तान में गोकुल-वृन्दावन के नटखट श्याम और बदनामी के डर से झिझकती गोपी! इस लौकिक भावना को व्यक्त करने के लिए पाकिस्तानी शायर निगार सहबाई को प्रेम व प्यार के मशहूर प्रतीक लैला-मंजनू याद नहीं आते, उन्हें लौकिकता से अलौकिकता की ऊँचाइयों में उठा ले जाने वाले नटखट श्याम और गोपियां याद आती हैं। पाकिस्तान के ही एक और शायर हैं-जफर इकबाल, जो अपनी धर्म की स्मृतियों की शायरी नहीं करते। वे अपनी शायरी में सांस्कृतिक स्मृतियों को सहेजते हैं। उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ देखें-

रजनी ने फैलाया फन
सहम सांझ का नीलापन
खोलो-खोलो मन के द्वार
चदंन वन से आई पवन।

चंदन के वन और इनकी पवन तो भारत के मैसूर प्रदेशों में है और वहीं से होकर यह पवन बहती है। पाकिस्तान में तो चन्दन का पेड़ होता नहीं, वहाँ आसपास कोई ऐसा इलाका भी नहीं, जहाँ चन्दन के पेड़ होते हों। पाकिस्तान की इस शायरी की इस आवाज को आप खारिज कर देना चाहेंगे? निश्चित ही नहीं। इसका एक ही जवाब है हमारे सामने कि तमाम राजनीतिक दाँवपेंचों और दुश्मनी के बावजूद हमारा सांस्कृतिक बिरसा एक ही है और यह एक रहेगा, इसे कोई ताकत खत्म नहीं कर सकती।

पिछले दिनों मुझे एक निमन्त्रण-पत्र मिला। इस निमन्त्रण का पाना मेरे लिए एक नए अनुभव की तरह था, जिसका जिक्र करना मैं जरूरी मानता हूँ। आप भी सब सुनें! कि कैसा था, वह निमन्त्रण-पत्र। एक ओर भव्य मन्दिर, उसी से सटी हुई रोशनी की लड़ियों में

जगमगाती एक और मस्जिद। इसके दूसरे कोने में अमृतसर का भव्य स्वर्ण मन्दिर, उसी से सटी हुई रोशनी की लड़ियों में जगमगाती एक और मस्जिद। इसके दूसरे कोने में शानदार गिरजाघर और इन सबकी पृष्ठभूमि में महात्मा गाँधी का मुस्कराता हुआ चित्र। फिर तिरंगा थामे सिंहरथ पर आरूढ़ भारत माता की तस्वीर। इतना ही नहीं, इस पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का लिखा राष्ट्रगान-जन गण मन अधिनायक जय हे! भारत भाग्य विधाता! इस निमन्त्रण पत्र पर साहिर लुधयानवी और असद रजा की दो-दो लाइनें भी छपी थीं।

साहिर साहब की लाइनें देखिए-

न हम इस वक्त हिन्दू हैं न मुस्लिम न इसाई
अगर कुछ हैं तो बस इस देश, इस धरती के शैदाई

और असद रजा की इन पंक्तियों पर भी गौर फरमाएँ-

मुकय्यद रह नहीं सकता किसी मन्दिर या मस्जिद में,
वो मालिक है, हर इक सीने में अपना घर बनाता है।

इतना सब कुछ पढ़ने के बाद भी यह सोचता रहा कि निमन्त्रण पत्र किस बाबत है? जब कार्ड उल्टा-पल्टा तो कुछ समझ आया। फोल्डर के ऊपरी पन्ने पर आतिश के फूटते अनार की इन्द्रधनुषी छटा थी। उसे देखकर लगा कि यह कार्ड किसी खास खुशी में शरीक होने का न्यौता लेकर आया है। मेरी निगाह जब फोल्डर की इबारत पर गयी तो मैं आत्मविभोर को उठा। दिल को छू लेने वाली पंक्तियों का जायजा आप भी लें-'कि हमारे लिए यह इन्तहाई फखो् मसर्रत का मुकाम है कि हम अजीम हिन्दुस्तान के बशिन्दे हैं, जिस की तहजीब, जिसकी फिकरापरस्ती आहंगगी पूरी दुनिया के सामने एक मिसाल रही है। शायद हिन्दुस्तान दुनिया का अकेला मुल्क है, जहाँ एक साथ इतने धर्मों के लोग रहते हैं। हमारी ख्वाहिश है कि इस तकरीब के मौके पर उनका सम्मान करें।"

पंक्तियाँ पढ़कर लगा कि शायद यह हिन्दुस्तान की तहजीब और इंसानी परम्परा को रेखांकित करने वाला कोई जलसा है, जिसमें मुझे आमन्त्रित किया गया है। मैं इस निमन्त्रण कार्ड की खासियत को रुक-रुक कर इसलिए बता रहा हूँ, क्योंकि भारत की आधारभूत सच्चाई की आत्मा को जानना और पहचानना बहुत जरूरी है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के समन्वय की यही सचाई हमारी आज की तात्कालिक राजनीतिक सचाई के अवश्य काम आएगी। यहाँ तरह-तरह से इस समन्वित होती संस्कृति के मूलाधार को धार्मिक संघर्ष के रूप में पेश करके हिन्दुत्वादियों के लिए सत्ता प्राप्ति के लिए जरूरी रहा है, लेकिन वह हमारी संस्कृति के विविधितावादी ताने-बाने को नहीं तोड़ पाया है। अब मैं यह बता दूँ कि यह निमन्त्रण पत्र मेरी अपनी बेटियों, जिनका नाम सबा और रोज है, के निकाह के बाबत था, जिन्होंने अपने शरीके-हयात शकील और समीर को खुद चुना था और मुझे उसमें शरीक होना था। मुझे आमन्त्रित करने वाले सख्स थे-भाभी रेशमा अजीज और भाई अजीज बन साहब।

ऐसा ही एक दूसरा अवसर प्राप्त हुआ था मुझे। यह शादी का तो मौका नहीं था, मगर मैंने इस मौके को हाथ से न जाने दिया। इस निमन्त्रण पत्र की भाषा देखिए-

मोहतरम…आदाब!...अर्ज है कि बराए करम तारीख 23 नवंबर, 2003 बरोज

इतवार को गरीबखाने पर बराए इफ्तार रोजा तशरीफ फरमा होकर खादिम को इज्जत बख्शने की जहमत गवारा फरमाएँ। स्थान पुराना जी. टी. रोड, ईदगाह के पास, होडल। कार्ड पर ऊपर एकादशी के चाँद की बाँहों में शानदार मस्जिद की तस्वीर थी और नीचे कोने में कार्ड भेजने वाले साहब का नाम दर्ज था-राजेन्द्र सिंह, होडल, फरीदाबाद। लिफाफे पर यह चन्द लाइनें लिखी हुई थीं...मैं खुद आपकी खिदमत में हाजिर होना चाहता था और यह दावतनामा पेश करना चाहता था, मगर पता चला कि आप बाहर गए हुए हैं। जनाब! आप तशरीफ जरूर लाएँ। पूरा मेवात आप का मुंतजिर है। आपका-राजेन्द्र सिंह।

मेवात का जिक्र आते ही तय कर लिया कि इस मौके पर हाजिर होना ही है। घण्टे भर का रास्ता और दिल्ली हाइवे। वही मथुरा रोड...फरीदाबाद, बल्लभगढ़, पलवल फिर होडल। हिस्सा हरियाणा का, मगर ब्रज संस्कृति में गुंथा हुआ इलाका। होडल के आगे कोसी है, जहाँ से कृष्ण के गाँव नन्दगाँव और राधाजी के गाँव बरसाना के लिए सड़क अलग होती है। यहाँ मैं कहना यह चाहता हूँ कि भारत के औसत आम आदमी की यह भाषा देखिए! भारत में धर्म की सड़कें अलग-अलग होने के बावजूद भाषा की सड़कें अलग नहीं होतीं।

दिल्ली-मथुरा-आगरा हाइवे पर ही पड़ता है-बघौला गाँव। पलवल से पहले। यह अकबर के नौ रत्नों में सबसे प्रख्यात रत्न बीरबल का गाँव है। आपको यह जानकर हैरानी हो सकती है कि बीरबल का यह गाँव संस्कृत पठन पाठन का सबसे बड़ा और इस क्षेत्र का सबसे पुराना केन्द्र है। लगभग सोलहवीं सदी का गाँव। आज भी यहाँ पुराना संस्कृत विघालय चल रहा है। यहाँ से हजारों लोग संस्कृत में शास्त्री और आचार्य बनकर निकले हैं। संस्कृत पठन-पाठन की यह परम्परा सदियों से चली आ रही है। यहाँ से मुस्लिम धर्म को मानने वाले लोगों ने भी संस्कृत में उपाधियाँ प्राप्त की हैं।

होडल से लगा एक गाँव और है-बंचारी। यह कृष्ण के बड़े भाई बनवारी अर्थात बलराम का गाँव कहलाता है। यह ब्रजमंडल के विश्वप्रसिद्ध हरियाणवी लोक गायकों का गाँव है। सोचा था-इफ्तार पार्टी में ज्यादा से ज्यादा सौ-दो सौ लोग होंगे, मगर वहाँ का नज़ारा ही कुछ अलग था। यह देखकर मैं अपनी खुशी नहीं संभाल पा रहा था कि वहाँ कम से कम पाँच हजार मेवाती मुसलमान किसान मौजूद थे। वे ईदगाह के सामने महारानी किशोरीबाई कन्या महाविघालय के विशाल प्रांगण में कतारबद्ध होकर नमाज अदा कर रहे थे। छुआरे, खजूर और नमक से रोजा इफ्तार कर चुके थे। धीरे-धीरे लोग खुले मैदान में आ गए, जहाँ हिन्दू जाटों के सभी खापों के बड़े-बुजुर्ग थे। यह आज की नहीं, वर्षों की परम्परा थी, जिसे यह हिन्दू-मुसलमान आज भी निभाते आ रहे हैं-'मकशूर होंगे' वाले अस्सी वर्षीय हिन्दू मेवाती राजेन्द्र सिंह और उनके यशस्वी पुत्र हर्ष इसे आज भी निभा रहे हैं।

नमाजियों के सामने पत्तलें रख दी गयी थीं और हाथों में डोंगे लिए कतार में खाना परोसने के लिए सैकड़ों जाट हिन्दू नवजवान खड़े थे। पतलों में खाना परोस दिया गया। हिन्दू भीड़ ने भी खाना उनके साथ बैठकर ही खाया। राजेन्द्र सिंह और उनके बेटे हर्ष मुझे बता रहे थे कि लोगों में भाईचारे की यह परम्परा सदियों से चली आ रही है कि हम में बँटवारा नहीं होता। हमारा धर्म अलग है मगर हमारा इंसानी भाईचारा (यानी संस्कृति) एक है। जिस किशोरी बाई कालिज के कैम्पस में यह रोजा इफ्तार पार्टी आयोजित थी, वे महारानी किशोरीबाई महाराज सूरजमल की पटरानी थीं। इन्हीं महाराजा सूरजमल ने

मुसलमानों की दिल्ली से मीर तकी मीर को बरसाना में पनाह दी थी। इन्हीं महारानी किशोरी बाई की सातवीं पीढ़ी से है-इस इफ्तार पार्टी के कर्ता-धर्ता राजेन्द्र सिंह। तो यह है स्मृति की परम्परा की सच्चाई, जो सदियों से चली आ रही है।

समझ में नहीं आता कि सबा, रोज, शकील, समीर, श्रीमती रेशमा अजीज और जनाब अजीज बर्नी साहब को क्या हो रहा है कि शादी के कार्ड पर सिंहवाहिनी भारतमाता की तस्वीर छापते हैं। उसमें टैगौर के लिखे राष्ट्रगान-जन गण मन की पंक्तियाँ प्रकाशित करते हैं! क्या हो गया है-राजेन्द्र सिंह को, जो इफ्तार पार्टी की परम्परा को वर्षों से निभाते चले आ रहे हैं और जहाँ हिन्दू तथा मुसलमान एक साथ बैठकर पत्तलों में भोजन करते हैं। हम दोनों देशों की संस्कृति ऐसे ही जिद्दी, खब्ती और पागल लोगों के भरोसे जिन्दा है और हम आज भी भारत में इसे जी रहे हैं और ऐसे ही 'पागलों की तलाश में मैं पाकिस्तान आया हूँ.

हमारा यह मिलना भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों में सुधार लाने और स्थाई शान्ति कायम करने का ऐतिहासिक अवसर साबित होने जा रहा है। दोनों देशों के बीच अब 'आशा कम है' की भावना की जगह 'विश्वास बहुत है' में बदलती जा रही है। यह विश्वास ही दोनों देशों को करीब लाएगा। क्योंकि साहित्य उम्मीद के साथ-साथ यही विश्वास पैदा करता है! शायर शहरयार के शब्दों में यदि कहूँ-'स्याह रात लेती नहीं है नाम ढलने का, यही तो वक्त है सूरज तेरे निकलने का'। आमीन!

सांस्कृतिक राजधानी लाहौर और पाकिस्तान में बसन्त विद्रोह

ला हौर की उम्र का हर पन्ना इतिहास ने लिखा है। एक तरह से कहें तो इतिहास का दूसरा नाम लाहौर है। इसकी उम्र करीब 1500 साल है। यों पौराणिक कहानियों के हिसाब से यह हजारों साल पुराना है। कहा जाता है कि अयोध्या के राजा राम के पुत्र लव ने इसे बसाया था और दूसरे पुत्र कुश ने आज की भारत-पाक सरहद के पास बसा कसूर नगर बसाया था, मगर यह सब किंवदंतियाँ हैं। कुछ भी हो, लाहौर को लेकर एक बहुत मशहूर कहावत है कि 'जिसने लाहौर नहीं देखा वह पैदा नहीं हुआ!' यह मंजूर करना ही पड़ेगा कि दुनिया के किसी भी, बड़े से बड़े शहर को भी ऐसी सिरमौर कहावत से नवाजा नहीं गया! अपने असगर बजाहत का इसी नाम का बहुत मशहूर नाटक भी है। जिसे हबीब तनवीर ने निर्देशित किया है। जब मैं लाहौर गया, उस समय असगर वजाहत का यह नाटक लाहौर में प्रतिबन्धित था!

सन् 630 में चीनी यात्री ह्वेन साँग ने लाहौर का जिक्र अपने यात्रा-विवरण में किया है। यह पहला लिखित प्रमाण है जो हमें मिलता है। एकाध अरबी ग्रन्थों में भी लाहौर का जिक्र दसवीं सदी में मिलता है, पर लाहौर का महत्त्व मुगलों के भारत में आने के बाद ही स्थापित होता है। वैसे सन् 1524 में बाबर ने इस पर कब्जा कर लिया था, उससे पहले भी यह शहर बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र था और उत्तर पश्छिम के सीमांत से भारत के अन्दर आने वाले मार्ग का सबसे बड़ा नगर था। इसके सांस्कृतिक व्यक्तित्व का निर्माण अकबर के जमाने में हुआ। अकबर ने 1585 में अपने साम्राज्य की राजधानी को आगरा से लाहौर स्थानांतरित किया था। अकबर अगले तेरह वर्षों तक लाहौर में रहा। उस समय लाहौर सांस्कृतिक समन्वय का महत्वपूर्ण क्षेत्र भी था और यही वह समय भी था जब लाहौर का एक समग्र संस्कृतिक व्यिक्तत्व विकसित हुआ | अकबर के जमाने में ही लाहौर में 'महाभारत'

और कश्मीर के कवि-इतिहासकार कल्हण के ऐतिहासिक कथा ग्रन्थ 'राजतंरगिणी' का अनुवाद फारसी में किया गया!

यह भारतीय संस्कृति की निरन्तर एकसार-हमवार होते रहने वाली वह धारा थी जो धर्मों को लाँघ कर लगातार अपने आन्तरिक स्वरूप को मजबूत करती रही। अकबर के बाद भी जहाँगीर और शाहजहाँ का बहुत गहरा सम्बन्ध लाहौर से रहा। शाहजहाँ तो लाहौर में

पैदा ही हुआ था। हालाँकि औरंगजेब से ज्यादा दारा शिकोह का सम्बन्ध लाहौर से रहा, पर लाहौर की ऐतिहासिक बादशाही मस्जिद का निर्माण औरंगजेब ने करवाया, जिसका जिक्र मैंने हीरामण्डी और 'कुक्कूज नेस्ट' वाले प्रकरण में किया है। औरंगजेब के बाद लाहौर मुग़ल सल्तनत का मुख्य शहर नहीं रह गया क्योंकि औरंगजेब दक्षिण विजय और दिल्ली की गद्दी पर कब्जा करने और अपने सगे भाइयों को खत्म करने में व्यस्त रहा।

लाहौर का ऐतिहासिक महत्व महाराजा रंजीत सिंह के सिख साम्राज्य के उदय के साथ फिर स्थापित हुआ। इससे पहले अट्ठारहवीं सदी में पठान लुटेरे नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली लाहौर की सारी सम्पदा लूट चुके थे। महाराजा रंजीतसिंह का समय लाहौर के लिए सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रहा है। इस दौर में इस्लाम की सूफी परम्परा और शेष उत्तर भारत की भक्ति परम्परा का गहरा मानसिक और धार्मिक प्रभाव जन मानस पर पड़ा। सूफी सन्तों-दरवेशों का केन्द्र मुलतान था ही, भक्ति परम्परा का सबसे ज्वलंत संदेश गुरु नानक की वाणी में सामने आया, यह आध्यात्मिक और इंसानी सम्मिलन महाराजा रंजीत सिंह के दौर में और प्रगाढ़ हुआ। बीच के समय में जो लाहौर आक्रमणकारियों के लश्करों की सराय हुआ करता था, वह अब भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं के समन्वय-केन्द्र के रूप में विकसित होने लगा। महाराजा रंजीत सिंह का सिख साम्राज्य पेशावर से कश्मीर तक फैला हुआ था, परन्तु, महाराजा रंजीत सिंह के निधन के सात साल बाद अंग्रेजों ने उनके साम्राज्य पर कब्जा करके सन् 1846 में लाहौर पर अपना झण्डा फहरा दिया। इसके बाद लम्बा समय है, जिसके अन्तराल में पंजाब आजादी की लड़ाई का रणस्थल बना, जिसका केन्द्र लाहौर ही था। क्रान्तिकारी आन्दोलन और कांग्रेस पार्टी की जबरदस्त गतिविधियाँ यहाँ शुरू हुई, जिनके शीर्षस्थ नेता भगतसिंह और लाला लाजपत राय थे। गदर पार्टी का आतिशी आन्दोलन भी यहीं के सिख किसानों व्दारा शुरू किया गया था। वैसे भी स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए तो लाहौर प्रसिद्ध है ही, क्योंकि कांग्रेस अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू व्दारा लाहौर में रावी के तट पर 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव सन् 1929 में पारित किया गया था! और इसे भी नहीं भुलाया जा सकता कि मुस्लिम लीग व्दारा भारत विभाजन का प्रस्ताव भी इसी लाहौर में सन् 1940 में पारित किया गया था! मुस्लिम लीग का यह अधिवेशन लाहौर के तत्कालीन मिण्टो पार्क में हुआ था जिसे आज 'गुलशने-इकबाल के नाम से. जाना जाता है। और उसी प्रस्ताव की स्मृति में 'मीनारे पाकिस्तान' यहीं स्थापित की गई है, जिस पर फूल चढ़ाकर पाकिस्तान के निर्माण को भारत के तत्कालीन हिन्दुत्ववादी प्रधान मन्त्री अटलबिहारी वाजपेयी ने लाहौर यात्रा के दौरान अपनी अकीदत प्रदर्शित की थी! विभाजन की अमानवीय त्रासदी का सबसे बडा गवाह यह लाहौर शहर ही है। विभाजन के बाद जो मुसलमान पाकिस्तान गए थे, वे पहले लाहौर ही पहुँचे थे और जो हिन्दू-सिख पाकिस्तान छोड़कर भारत आए थे, वे भी लाहौर के रास्ते ही आए थे!

इसीलिए कहना पड़ता है कि लाहौर की उम्र का प्रत्येक पृष्ठ इतिहास ने लिखा है। आजादी और विभाजन के बाद भी भारतीयों की स्मृति में जितना लाहौर रहा है, उतना कोई अन्य शहर नहीं। और किसी को भी यह कहने और मानने में दिक्कत नहीं होनी चाहिए कि दक्षिण एशिया का सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक नगर लाहौर ही है। वैसे तो भारत में

लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, आगरा और हैदराबाद आदि सांस्कृतिक रूप से महत्वपूर्ण शहर हैं पर इनमें कोई भी लाहौर की बराबरी नहीं कर सकता! यह शहर व्यापारी रास्ते पर भी है और भारत में घुसने के लिए आक्रमणकारियों के लिए आवश्यक रास्ता भी रहा है, क्योंकि लाहौर मैदानी क्षेत्र में है और इसकी सामरिक सुरक्षा सम्भव नहीं है। दो भारत-पाक युद्धों के दौरान भारतीय फौजें लाहौर की बाहरी सरहद तक पहुँच कर खड़ी रही हैं, क्योंकि वे लाहौर पर कब्जा करके नागरिक प्रशासन आदि की जिम्मेदारी नहीं संभालना चाहती थीं। उन्हें मालूम था कि युद्ध विराम होते ही इन्हें सबसे पहले लाहौर छोड़ना पड़ेगा। हमें यह मान लेना चाहिए कि सामरिक शक्ति में भारत और पाकिस्तान की कोई बराबरी नहीं है, अतः युद्ध की स्थिति में पाकिस्तान हमेशा नुकसान में रहेगा। इस तथ्य को हिन्दू-मुस्लिम जय-पराजय के रूप में नहीं लेना चाहिए जैसा कि आम तौर पर होता है। भारत की साम्प्रदायिक हिन्दू शक्तियाँ पाकिस्तान के आंशिक रूप से पराजित होने पर भारत के मुसलमानों को अपमानित करने लगती हैं। यह तब, जब कि भारत-पाक के बीच हुए अब तक के तीन युद्धों में भारतीय मुसलमान सैनिक शहीदों की कमी नहीं है! पाकिस्तान में बड़े पैमाने पर फैली हुई ग़लतफहमियों को भारतीय सिनेमा और टी. वी. चैनलों ने दूर किया है। हालाँकि वहाँ दोनों ही माध्यम प्रतिबन्धित हैं पर भारतीय सिनेमा और टी. वी. को लेकर वहाँ के लोगों का लगाव जुनून जैसा लगता है। पाकिस्तान के प्रत्येक छोटे, बड़े, मँझोले शहर, कस्बे और गाँव के बाजार हिन्दुस्तानी सिनेमा और म्यूजिक के कैसटों से पटे पड़े हैं। पाकिस्तान के पाँच प्रदेशों के लोक संगीत के अतिरिक्त वहाँ केवल भारतीय सिनेमा संगीत ही मौजूद है जो हर मौके पर सुनाई पड़ता है। भारतीय फिल्मों और टी. वी. प्रोग्रामों ने उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक जानकारियों में बेहद इज़ाफा किया है। उन्हें अब मालूम पड़ा है कि भारत में मुसलमानों की आबादी उनकी अपनी कुल आबादी से कहीं ज्यादा है और भारत में मजहब के नाम पर हिन्दू मुसलमानों के बीच कोई बड़ा भेदभाव नहीं है। हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते हैं, यह भी उहें पता है पर उन्हें अब यह भी मालूम है कि भारतीय मुसलमान और सेकुलर हिन्दू मिलकर एक बहुत बड़ी राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक ताकत हैं!

पाकिस्तान का मज़हबी अवाम और जमाते-इस्लामी जैसी राजनीतिक जमातें हिन्दुस्तानी फिल्मों और भारत की टी. वी. कल्चर से बहुत परेशान और नाराज हैं। वे मानते हैं कि इनकी वजह से पाकिस्तान के नौजवान गुमराह हो रहे हैं। वे पाकिस्तान को ही नहीं, हिन्दुस्तान को भी इस बुरे असर से बचाना चाहते हैं! वे बहुत खुश हैं कि एबट रोड एरिया से लाहौर फिल्म इण्डस्ट्री बम्बई चली गयी। वैसे पाकिस्तानी फिल्म इण्डस्ट्री का दबदबा अभी भी है पर वह बहुत पिछड़ गई है। वैसे लक्ष्मी चौक अभी है और इसका नाम भी नहीं बदला है। लक्ष्मी बिल्डिंग भी पुरानी यादें समेटे अब भी खड़ी है। जैसे चाँदनी चौक में फिल्म कम्पनियों का केन्द्र भगीरथ पैलेस है, वैसे ही पाकिस्तानी फिल्मी कम्पनियों का केन्द्र लाहौर के लक्ष्मी चौक की लक्ष्मी बिल्डिंग है, पर अब वहाँ फिल्म पोस्टरों के अलावा फिल्मी रौनक बिल्कुल नहीं है।

लाहौर का संगेमील प्रकाशन सचमुच मील के पत्थर की तरह आकर्षित करता है। यों तो संगेमील पब्लिशिंग हाउस में हमारा लंच था, मगर वहाँ किताबों से मिलने और उन्हें देखने की भूख इतनी ज्यादा थी कि वक्त बहुत कम पड़ गया। संगेमील के अधिकांश प्रकाशन इतिहास और संस्कृति पर हैं। पाकिस्तान के निर्माता मोहम्मद अली जिन्ना पर भी कई और कई तरह की किताबें वहाँ मौजूद हैं। लगभग सभी प्रकाशन उर्दू में हैं, कुछ अंग्रेजी में भी हैं। और जो पंजाबी में हैं, उनकी लिपि उर्दू ही है। विदेशी आक्रमणकारियों, लुटेरों और व्यापारियों के घुसने का मुख्य द्वार चूँकि लाहौर रहा है, इसलिए संगेमील प्रकाशन की पुस्तकों की प्रकृति अलग है। प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास के अलावा वैदिक, बौध्द और गी्क कालिन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व पर जितनी पुस्तकें मैंने संगेमील प्रकाशन में देखीं, वे अलग तरह की जानकारियों की दुनिया में ले जाती हैं, यहाँ तक कि सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण के लिए कौन-सा रास्ता अपनाया और सिन्धु सभ्यता के अलावा चाणक्य-चन्द्रगुप्त आदि के दौर में वहाँ की जिन्दगी और शासकों का हाल-हवाल कैसा और क्या रहा है, उसकी जानकारी देनेवाली समाजशास्त्रीय श्रेष्ठ पुस्तकें भी यहाँ हैं। संगेमील प्रकाशन मात्र प्रकाशन नहीं, जरूरी पुस्तकों का ग्रन्थागार है! मन तो चाहता था कि वह पूरा प्रकाशन ही उठा लाया जाए, पर यह सम्भव नहीं था!

पाकिस्तान की यह छवि कि वहाँ इतना अधिक इस्लामीकरण हो गया कि उसे पहचानना और वहाँ के वातावरण में साँस लेना मुश्किल होगा, बहुत सही छवि नहीं है। यघपि यह कहना भी गलत होगा कि वहाँ इस्लामीकरण नहीं हुआ है पर वह ज्यादातर राजनीति और मजहबी इदारों के क्षेत्र में हुआ है। वहाँ के मज़हबी कट्टरपंथियों ने प्रत्येक गैर-इस्लामी प्रतीकों-संकेतों-नामों निशानों और उनकी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पहचान को नष्ट किया है, पर यह तथ्य भी उतना ही बड़ा और अहम है कि आखिर इस्लाम के गलत ज़ोम में कोई कितना कुछ नष्ट करेगा! सिन्धु सभ्यता कालिन, मोहन जोदड़ो-हड़प्पा कालिन, वैदिक, बौध्द यूनानी और ग़ैर इस्लामी दौर का ईरानी प्रभाव और उसके पुरातन अवशेष यहाँ सदियों से मौजूद हैं, आखिर पाकिस्तान का यह नया तास्सुबी इस्लामी तबका कितने गैर इस्लामी सरमाये को मटियामेट करेगा! यह करने में उसे सदियाँ लगेंगी! शुरू-शुरू के इस्लामी अंधड़ में लाहौर को भी ‘मुसलमान’ बनाया गया, पर उसे ‘पंजाबी’ होने से रोका नहीं जा सका!

यहॉ तक कि लाहौर की पहली पहचान पंजाबी होने की है, दूसरी पहचान इस्लामी या मुसलमान होने की है! यहाँ हिन्दू-सिखों का असर तलाशना बेवकूफी होगी, क्योंकि यह लाहौर शहर मूलत: पंजाबियों का है। वैसे दिल को सतही राहत देने के लिए यह बताया जा सकता है कि लाहौर के लक्ष्मी चौक जैसे मशहूर इलाके के अलावा सर गंगाराम हास्पिटल जानकी देवी हास्पिटल गुलाब देवी हास्पिटल अभी भी इसी नाम से यहाँ मौजूद हैं। सर गंगाराम ने ही आधुनिक लाहौर शहर की टाउन प्लानिंग की थी। नेशनल कालिज ऑफ आर्ट्स, जिसका जिक्र मैंने हीरामण्डी वाले अध्याय में किया है, उसकी स्थापना भी सर गंगाराम ने ही की थी! वे इंजीनियर थे। इसके अलावा सुन्दरदास रोड, मोहिनी रोड, दयाल सिंह कालिज, दयाल सिंह लायब्रेरी, राजा राममोहन राय होस्टल, किशन नगर, मेलाराम रोड इत्यादि अपने पुराने नामों के साथ यहाँ अब भी मौजूद हैं।

जब मैं पुरानी अनारकली से गुजर रहा था तो एक लाहौरी दोस्त ने ही वह मकान दिखाया था, जिसमें अमृता प्रीतम रहती थीं। और एक कथा गोष्ठी में आमन्त्रित किया गया तो वहाँ मात्र तीन उर्दू कहानीकारों की तस्वीरें लगी हुई थीं। वे तीन थे-कृशनचन्दर, राजेन्द्र सिंह बेदी और मंटो!

और क्यों न विभाजन के दिनों की सच्चाइयों को मंटों के ‘स्याह हाशिए की एक लघुकथा के साथ यहाँ याद कर लिया जाए! याद है न वह-

दंगाइयों की भीड़ बाइें ओर मुड़ी! दंगाइयों का गुस्सा सर गंगाराम के संगमरमरी बुत पर नाजिल हुआ। एक ने उनका चेहरा कोलतार से पोत दिया। दूसरे ने सर गंगाराम के बुत को जूतों की माला पहनानी चाही थी कि तभी पुलिस ने गोली चलाई और जूतों की माला पहनानेवाला बुरी तरह घायल हो गया। उसे फौरन ही सर गंगाराम अस्पताल पहुँचाया गया!

तो ‘स्याह हाशिए तो दर्ज हो चुके हैं जो उस गैर इंसानी जुनूनी दौर की असलियत बयान करते हैं पर यह भी उतनी ही अहम असलियत है कि कोई मजहबी मुल्क या समाज ग़लत इंसानी रुझानों को लेकर बहुत देर तक जुनून या पागलपन की हालत में नहीं रह सकता ,

और इसका सबसे बड़ा प्रमाण है पाकिस्तान के इसी लाहौर शहर में चलने वाले उस सांस्कृतिक विद्रोह का प्रसंग जो अब कराची के अलावा अन्य शहरों में भी फैल चुका है! यह एक संस्कृतिक विद्रोह है जो एक सेकुलर त्यौहार को लेकर शुरू हुआ है। इसे सहज ही ‘बसंत विद्रोह’ का नाम दिया जा सकता है।

मैं मार्च में लाहौर पहुँचा था, उससे पहले फरवरी में यह बसन्त का त्यौहार मनाया जा चुका था। यह बसन्त के आगमन का त्यौहार है जो किसानों से जुड़ा है। इस त्यौहार की मस्ती ही अलग है। सरसों के फूलने के अलावा यह ऋतुओं के बदलने का त्यौहार है, जब कड़कड़ाती सर्दी से किसान को खुशनुमा निजात मिलती है। बसन्त पर पतंगें उड़ाने का विशेष महत्व है। लाहौर के हमारे एक नये दोस्त ने ही बताया कि यह पतंगें उड़ाने और पेंच लड़ाने का खास दिन है। इसका हिन्दू या इस्लाम जैसे मजहब से कोई लेना-देना नहीं है। यह तो पाकिस्तान के पंजाबी किसान की खुशियों और मौज मस्ती का दिन है! हालाँकि कट्टरपन्थी इस्लामी जमातें और दकियानूसी लोग बसन्त के त्यौहार का बड़ा विरोध कर रहे हैं, पर यह त्यौहार लगातार बेहद लोकप्रिय होता जा रहा है। मात्र लाहौर तक ही यह सीमित नहीं है बल्कि सिन्ध कराची के अलावा अन्य प्रान्तों में भी अब बसन्त मनाया जाने लगा है!

एक तरह से यह त्यौहार हर तरह की प्रगतिवादी सोच का पर्याय ही नहीं बन गया है, बल्कि आम जनता के विद्रोह और प्रतिवाद का प्रतीक भी बन गया है! और भारतीय पाठकों को यह जान कर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि पंजाब का किसान इस्लामी तिथियों और तारीखों के कलैण्डर के हिसाब से नहीं चलता, वह आज भी भारतीय मौसमों के आधार पर चलता है। पाकिस्तानी किसान आज भी मौसमों को चैत, बैसाख, जेठ, अषाढ़ आदि नामों से जानता और याद करता है।

और इस भरपूर सांस्कृतिक अनुभव के साथ यह सोचना कितना अच्छा लगता है कि

लाहौर का दिल्ली दरवाज़ा आज भी दिल्ली को देख रहा है और दिल्ली का लाहौरी दरवाजा लाहौर की तरफ अभी भी मुखातिब है!

पाकिस्तान में पाकिस्तान से नहीं, यादों से मिलना हुआ

मेरे पाकिस्तान पहुँचने से पहले 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास वहाँ पहुँच चुका था। यहाँ इसका ज़िक्र करना इसलिए जरूरी है कि इस घटना से हिन्दुस्तानी और पाकिस्तानी ज़हनियत का पता लगता है, और आज के पाकिस्तान की एक झलक भी मिलती है। चूँकि प्रसंग मेरे उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' का है, अतः इसे इस पुस्तक का प्रचार न माना जाए। हुआ यह कि इस उपन्यास को जल्दी से जल्दी उर्दू में लाने की बात उठी। डॉ. खुर्शीद आलम ने इसका उर्दू मसविदा बहुत कम समय में तैयार कर दिया। उर्दू पत्रकार और शायर जनाब चन्द्रभान 'ख़याल' मेरे शुभचिन्तक हैं, उन्हें लगा कि यह उपन्यास किसी प्राइवेट पब्लिशर के यहाँ से नहीं, बल्कि उर्दू अकादमी से प्रकाशित हो। ख़याल साहब खुद उर्दू अकादमी बोर्ड के सदस्य हैं। डॉ. गोपीचन्द नागंर भी उसके मेम्बर हैं। उर्दू में प्रकाशन के लिए इसकी पाण्डुलिपि उर्दू अकादमी को सौंप दी गयी। चिट्ठी आई कि किताब प्रेस में चली गयी है। उसके करीब तीन हफ्ते बाद उर्दू अकादमी के सेक्रेटरी का पत्र आया कि उपन्यास का नाम बदल दिया जाए क्योंकि इसके शीर्षक 'कितने पाकिस्तान' पर बोर्ड के मेम्बरों को एतराज है। वैसे भी मैं इसका नाम बदलने को कभी तैयार होता ही नहीं, पर मुझे जरूरी लगा कि इस बेहूदे खत के बारे में डॉ. गोपीचन्द नारंग और चन्द्रभान खयाल को बता दिया जाए, क्योंकि मेरे यह दोनों मित्र उसी बोर्ड के मेम्बर थे। उर्दू अकादमी के इस खत को पढ़ कर दोनों को ताज्जुब ही नहीं, तकलीफ भी हुई। दोनों ने वहाँ अपने-अपने तरह से बात की, वैसे भी डॉ. गोपीचन्द नारंग उर्दू अदब और दुनिया की कोई मामूली हस्ती तो हैं नहीं और जनाब चन्द्रभान खयाल की उर्दू शायरी और पत्रकारिता में अपनी खास जगह है। इनकी बात और पैरवी का कोई असर नहीं हुआ। उर्दू अकादमी अपने फैसले से नहीं डिगी। बातें और बदतमीजियाँ तो और भी हुई, पर संक्षेप में कहूँ तो उर्दू अकादमी ने इतनी छूट दी कि कवर पर एक लाइन दे दी जाएगी कि इस नाविल का हिन्दी शीर्षक 'कितने पाकिस्तान' है, लेकिन उर्दू में छपने के लिए इसका मुख्य शीर्षक तो बदलना ही पड़ेगा। यह जिद जारी थी। मैं किसी कीमत पर नाम बदलने को तैयार नहीं हो सकता था। नहीं हुआ। इसमें चौंकाने और आगाह करने वाली बात यह है कि भारत की इस उर्दू अकादमी के बोर्ड पर कोई मुल्ला-मौलबी नहीं है। यह एतराज या जिद उन लोगों की थी जो उर्दू और अंग्रेजी के पत्रकार हैं और इनके साथ शामिल थे उर्दू के एकाध प्रोफेसर, जिन्हें

हम पढ़ा-लिखा मान सकते हैं। इस प्रसंग का जिक्र इसलिए जरूरी था कि यह मेरे लिए उसी पाकिस्तान का अनुभव है जिसे लेकर 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास लिखा गया! और यह 'पाकिस्तान' भारत के उन दिमागों में भी मौजूद है जो मुल्ला मौलवी नहीं, बल्कि पढ़े-लिखे कहे जाते हैं। इसीलिए अपने पाकिस्तान के सफरनामे में मैंने इस भारतीयों अनुभव को दर्ज करना जरूरी समझा।

तो, भारत की उर्दू अकादमी ने 'कितने पाकिस्तान' न तो छापा, न मसविदा वापस किया। तब इसे इसी नाम से छापने के लिए उर्दू के प्रख्यात साहित्यकार और मशहूर मीडियाकर्मी जनाब सलाउद्दीन परवेज साहब सामने आए। उनका अपना प्रकाशन है-इस्तेयरा पब्लिकेशंस। वह इसी नाम की पत्रिका भी प्रकाशित करते हैं। वहाँ से उर्दू में बहुत शानदार तरीके से छपकर 'कितने पाकिस्तान' आया। तब उर्दू संस्करण की प्रतियाँ पाकिस्तान और ब्रिटेन पहुँचीं। इसी बीच मेरे पास कराची था शायद लाहौर से एक फोन आया। उन साहब ने बताया कि उपन्यास उन्होंने मँगवाया है। पढ़ने के बाद वे फिर फोन करेंगे, लेकिन अगर इस उपन्यास को पाकिस्तान में छापा जाए तो क्या इसका नाम बदला जा सकता है? यह बात पाकिस्तान का एक लेखक प्रोफेसर मित्र पूछ रहा था। मैंने कहा कि आप पहले किताब पढ़ लीजिए, यह नाम तो एक मेटाफर या प्रतीक है, वैसे आप चाहें तो पाकिस्तान में इसका नाम 'कितने हिन्दुस्तान' रख लीजिए या 'कितने हिन्दुस्तान कितने पाकिस्तान' रख लीजिए।

फिर मेरा पाकिस्तान जाना हुआ। उसी कांफ्रेंस में मेरे दोस्त जनाब डॉ. आसिफ फर्रुखी भी आए। मिलना हुआ। वे 'कितने पाकिस्तान' पढ़ चुके थे। वे बोले कि इसका नाम 'कितने पाकिस्तान' बिलकुल सही है! यह पाकिस्तान में छपता है तब भी यह शीर्षक बदला नहीं जाना चाहिए। हमारी सार्क कांफ्रेंस लाहौर के सांस्कृतिक केन्द्र अलहमरा में चल रही थी। वहाँ अल्लामा इकबाल के बेटे जावेद इकबाल से मुलाकात हुई। फैज अहमद फैज की बेटी प्रो. सलीमा हाशमी, इतिहासकार मुबारक अली, 'उदास नस्लें' जैसे कालजयी उपन्यास के लेखक अब्दुल्ला हुसैन आदि से मुलाकात होती रही। इन्तजार हुसैन साहब, अहमद फराज, मुन्नू भाई, जाहिदा हिना, किश्वर नाहीद जैसे मशहूर अफसानानिगार और शायर लगातार मौजूद थे ही। यहीं मेरी मुलाकात डॉ. मिर्जा हामिद बेग साहब से हुई। बेग साहब लाहौर यूनिवर्सिटी में उर्दू पढ़ाते हैं और लेखक हैं। और तमाम बातों के दौरान उन्होंने मुझे एक पब्लिशर दोस्त से मिलवाया। मैं भारत लौटकर आया तो दो हफ्ते बाद ही मुझे लाहौर के टी. एण्ड. टी. पब्लिशर्स के यहाँ से पाकिस्तान में छपे 'कितने पाकिस्तान' की कापियाँ मिलीं। पाकिस्तानी पाठकों के लिए इसकी भूमिका खुद डॉ. मिर्जा हामिद बेग ने लिखी और इसे जनाब इरफान अहमद खाँ ने छापा था! पाकिस्तान में इसके नाम को समझा और सराहा गया। इसके अर्थ की गहराई को पहचाना गया। कहीं भी और कभी भी इसका नाम बदलने की बात नहीं उठी। यही है दकियानूसी बन्द जहनियत और खुली जहनियत का बहुत बड़ा अन्तर! भारत में तो बन्द जहनियत वाले पाकिस्तान से मेरा सामना हुआ लेकिन पाकिस्तान में वह पाकिस्तान नहीं मिला!

मैं नहीं कहता कि यह आज के पाकिस्तान की पूरी सच्चाई है, पर पाकिस्तान के बुद्धिजीवी वर्ग की सच्चाई का यह बहुत महत्वपूर्ण पक्ष है। वहीं बातचीत में कराची वाले

प्रोफेसर डॉ. आसिफ फर्रुखी ने बताया कि 'फर्रुखी' उनका जाति नाम नहीं है। असल में उनका घराना भारत के फर्रुखाबाद का है। 'जब पार्टीशन हुआ उस वक्त मेरे वालिद साहब बम्बई में थे। कुछ लोग विभाजन के समय बम्बई से जहाज द्वारा कराची जा रहे थे। मेरे अब्बा उन्हें छोड़ने गए थे। ये लोग बातचीत में मशगूल थे कि तभी जहाज का लंगर खुल गया। तब अब्बा क्या करते। वे पाकिस्तान आए नहीं, पहुँच गए थे। वालिदा, बच्चे और खानदान के लोग फर्रुखाबाद में ही थे, फिर अब्बा का लौटना नहीं हो सका। धीरे-धीरे सब लोग भी कराची आ गए। मैं तो करांची में ही सन् 47 के बाद पैदा हुआ। मेरे वालिद साहब हिन्दी अच्छी तरह जानते और पढ़ते हैं। उन्होंने पढ़ रखा है कि आप मैनपुरी के हैं और आपकी बीवी साहिबा फतेहगढ़ की। मैं लाहौर चलने लगा तो उन्होंने कहा फर्रुखाबाद और फतेहगढ़ तो जुड़ी हुई बस्तियाँ हैं। कमलेश्वर साहब की बीवी साहिबा आई हों तो उन्हें मेरी दुआ देना और उनके वालिद साहब का नाम पूछकर आना। मैं उन्हें और उनके घराने को जरूर जानता होऊँगा!..तो भाईजान, फर्रुखाबाद की याद में हमारा खानदान फर्रुखी हो गया!'

अभी हम यह बातें कर ही रहे थे कि देखा हमारी एक प्रतिनिधि रेनुका नारायणन पाकिस्तानी रंगमंच के किशोर और बाल कलाकारों के बीच घिरी हुई थीं। रेनुका ने बेढब बनारसी की दो लाइनें सुनाईं-'बेढब कबहूँ न छोड़िए ऐसो काशीधाम, मरने पर गंगा मिले औ' जीते लँगड़ा आम।' एक उत्सुक कलाकार नोट करने लगा, बीबी फिर से कहो, हम नोट कर लें, ड्रामे में इस्तेमाल करेंगे। रेनुका ने लाइनें दोहराने के बाद मीराबाई की लाइनें सुना दीं, 'पग धुंघरू बाँध मीरा नाची रे...' फिर वही इसरार—बीबी फिर से कहो...हम नोट कर लें...फिर, बीवी फिर से कहो...बीबी, फिर से कहो...विभाजित कल्चर की यह रुकी हुई प्यास है! यह भी पाकिस्तान की सच्चाई का एक अहम पक्ष है। फौजी तानाशाह जिया-उल-हक ने निजामे-मुस्तफा के नाम पर वहाँ की विकसित होती संस्कृति को बंजर में बदल दिया था। वहाँ का आम आदमी अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी के लिए दिखावटी धार्मिक कल्चर से मुक्ति चाहता है। वह जितना मुसलमान है उससे ज्यादा मुसलमान नहीं बनना चाहता। मेरे इस जुमले को समझने में गलती न की जाए। साझा संस्कृति की बात से परहेज करते हुए भी वह कल्चर की प्यास को खुले आदान-प्रदान से बुझाने में परहेज नहीं करना चाहता। इतने में एक साहब दो थर्मसों में लाहौर की मशहूर लस्सी ले आए। साथ बैठे दोस्त ने आगाह किया, कमलेश्वर साहब इसे मत पीजिए, यह लाहौर की पेड़ेवाली लस्सी है। आपको सेमिनार में बोलना भी है, पी लेंगे तो बहुत नींद आएगी! और इसी पर चट से एक लतीफा हो गया। सोवियत यूनियन के प्रेसीडेण्ट ब्रेजनेव साहब पाकिस्तान में कम्युनिस्ट क्रान्ति करने के इरादे से लाहौर आए थे। लोगों ने कहा चलिए लस्सी पीते हैं और वहीं लस्सी की दुकान पर बैठकर क्रान्ति के बारे में बात बाद ब्रेजनेव साहब ने कहा, दोस्तो बड़ी नींद आ रही है, क्रान्ति रुकी रह सकती है, पहले मैं सो लूँ।

तो भाई जान, तभी से पाकिस्तान क्रान्ति के इन्तजार में है।

तो यादों का सबसे खूबसूरत सिलसिला भाई आसिफ फर्रुखी से जुड़ा क्यों कि उनके वालिद

साहब को फर्रुखाबाद और फतेहगढ़ भूला नहीं था। उन्होंने मेरी पत्नी गायत्री के घर फतेहगढ़ को याद किया था। गायत्री को भी पाकिस्तान जाना था, सारी औपचारिकताएँ पूरी हो चुकी थीं। पर कुछ घरेलू जरूरतों की वजह से उन्हें रुकना पड़ा। डॉ. आसिफ फर्रुखी पाकिस्तान की नई पीढ़ी के सबसे महत्वपूर्ण आलोचक और लेखक हैं। उनका परिवार कराची में रहता है। वह वहीं पैदा हुए हैं। उनकी सांस्कृतिक और साहित्यिक पैठ बहुत गहरी है। तो फतेहगढ़ की गायत्री के खानदान इत्यादि की जानकारियाँ वे मुझसे चाहते थे, क्योंकि कराची पहुँच कर अपने वालिद साहब को वे जानकारियाँ उन्हें देनी थीं। डॉ. आसिफ का सोचना था कि शायद उनकी बड़ी बहनें या फूफियाँ गायत्री की सहपाठी रही हों, गायत्री के स्कूली दिनों की कोई जानकारियाँ मुझे नहीं थीं। पर एकाध बार अपने फतेहगढ़ को याद करते हुए उन्होंने सादिका, अनवरी, सलमा जैसे कुछ नाम जरूर लिए थे। तो, जितना कुछ मैं बता सकता था, वह बताया और डॉ. आसिफ के वालिद साहब व अन्य घरवालों को मैंने सलाम भेजा।

जाहिदा हिना पटना की यादों में डूबी रहीं और किश्वर नाहीद खासतौर से दिल्ली की यादों में। डॉ. मिर्जा हामिद बेग से अपने आफताब हुसैन की बहुत बातें होती रहीं। आफताब हुसैन को पाकिस्तान छोड़ना पड़ा था। वे बमुश्किल तमाम, किसी तरह भारत पहुँच सके थे। फिर यहाँ भारत से वे जर्मनी चले गए। आजकल वे आस्ट्रिया की राजधानी वियना में हैं। पाकिस्तान में आफताब हुसैन लाहौर यूनिवर्सिटी के एक कालिज में ही उर्दू पढ़ाते थे। डॉ. मिर्जा हामिद बेग से उनकी बहुत अच्छी पहचान थी और दोस्ती भी।

प्रो. अफजल तौसीफ साहिबा से मेरी पहली मुलाकात अमृता प्रीतम के यहाँ दिल्ली में हुई थी। उनके लेखन और लेखकीय साहस से मैं परिचित था। अमृता जी ने भी उनके बारे में मुझे बहुत कुछ बताया था। उनसे मिला तो तमाम बातें होती रहीं। हम अमृता जी की यादों में खोये रहे। प्रो. तौसीफ ने मुझे कुछ उपहार भी दिया और मेरे हाथों अमृता जी के लिए भी उपहार भेजा।

फिर जब भारत में साहित्य अकादमी की ओर से दक्षिण एशिया लेखक सम्मेलन हुआ तो पाकिस्तान से अन्य लेखकों कवियों के साथ डॉ. आसिफ फर्रुखी भी तशरीफ लाये। मैं उन्हें साथ लेकर घर आया। गायत्री से उन्हें मिलवाया। डॉ. आसिफ तो पाकिस्तान में ही पैदा हुए थे, पर वे अपने फर्रुखाबाद-फतेहगढ़ की सारी जरूरी जानकारियाँ लेकर आए थे, गायत्री से उनकी बातें होती रहीं, गायत्री के स्कूल के दिनों की। गायत्री यादों के सैलाब में डूबी हुई थीं। बातों के दौरान ही मालूम हुआ कि डॉ. आसिफ की एक फूफी गायत्री की सहपाठी रही थीं। डॉ. आसिफ फर्रुखी तो पाकिस्तान वापस चले गए पर अपने घरवालों से सुनी हुई फर्रुखाबाद-फतेहगढ़ की बहुत-सी यादें छोड़ गए।

लेकिन वहाँ मुसलमान बहुत हैं!

मैं पाकिस्तान का अपना सफरनामा जारी रखना चाहता हूँ क्योंकि इस बार जो पाकिस्तान देखने को मिला है, वह पहले देखने को नहीं मिला था, क्योंकि तब मेरा मिलना वहाँ के फौजी या ग़ैर-फौजी ऊँचे ओहदेदारों से ही हो पाया था। वैसे जब मैं सत्रह-अठारह साल पहले वाघा बार्डर तक गया था, तब भी वहाँ सुबह झण्डा फहराने और शाम को झण्डा उतारने का उत्सव होता था, जिसे देखने के लिए दोनों तरफ के सैकड़ों लोग आते थे। इस पार अमृतसर से, उस पार लाहौर से। हमारी सीमा पर बार्डर सिक्योरिटी फोर्स, बी.एस.एफ के जवान होते थे, उनकी सीमा पर पाकिस्तान रेंजर्स। हमने जमीन बाँटकर सरहदें सील कर दी थीं और दोनों तरफ ऊँचे-ऊँचे दरवाजे भी लगा दिए थे, जिनसे लोग हिन्दुस्तानी या पाकिस्तानी बन कर तो गुजर सकते थे, पर मामा-भांजे या चाचा-भतीजे के रूप में नहीं गुजर सकते। यह बँटवारा तब भी अजीब था, आज भी अजीब है। जानवर खुले आम इश्क फरमा कर इधर या उधर जा सकते थे पर सरहदी गाँवों के इन्सान दुआ-सलाम भी नहीं कर सकते। वैसे बहुत तकलीफदेह है वाघा बार्डर की सच्चाई। जैसे यह बहुत बड़ी रंगशाला हो-एम्फीथियेटर! यहाँ सुबह शाम नाटक चलता रहता है। झूठे और बेहूदे राष्ट्रवाद का। सुबह झण्डा आरोहण वाला नाटक तो होता ही है, पर शाम वाला झण्डा अवरोहण तो विषैले राष्ट्रवाद का प्रतीक बन गया है। वाघा बार्डर पर हर दिन यह सैन्यवादी नाटक दोनों ओर से चलता है। वैसे तो यह इलाका पाँच नदियों का पंजाब है, पर यहाँ सदियों का इतिहास लिए एक इंसानी नदी बहती है, उसका नाम है ग्रैंड ट्रंक रोड! शेरशाह सूरी का वह महामार्ग जो कोलकाता को काबुल से जोड़ता है। न जाने कितने कारवाँ इस महामार्ग से गुजरे होंगे। कितने दस्तकारों और कलाकारों ने यहाँ से गुजर कर इसे संस्कृति और सभ्यता का महामार्ग बनाया होगा, पर अब वाघा बार्डर पर इसे खण्डित कर दिया गया है।

लेकिन संस्कृति की नदी तो रुकती नहीं, उसे रोकने की चाहे जितनी भी कोशिश की जाए, वह बहती रहती है। संस्कृति की सरहदें नहीं होतीं। वाघा पर दोनों देशों के सैन्यवादी राष्ट्रवाद का जो प्रदर्शन चलता है, उसके बावजूद यहीं पर संस्कृति की अविरल धारा भी बहती रहती है। पाकिस्तानी रेंजर्स और भारत के बी.एस.एफ. जवान, दिन में दोनों को खास काम नहीं होता। अपने-अपने राष्ट्रवाद को कोई कब तक लादे रहे। उधर से तरबूज आते हैं तो इधर से खरबूजे और ककड़ियाँ जाती हैं। आखिर दोनों तरफ किसानों के बेटे

वर्दियां पहने तैनात हैं! वे बिना बोले या घर-गाँव के गीत-संगीत के बिना कैसे रह सकते हैं। दोनों के बीच कैसटों की अदला-बदली होती रहती है, पर शाम को झण्डा अवरोहरण के समय नजारा एकदम बदल जाता है। वाघा बार्डर की इस रंगभूमि में दोनों तरफ राष्ट्रवाद का भूत जागता है। झण्डा अवरोहण से कुछ पहले एकाएक राष्ट्र प्रेम के गानों की बौछार होने लगती है। इस तरफ से 'भारत माता की जय' का उद्घोष होता है तो उधर से 'जिये जिये पाकिस्तान' का नारा उछलता है और उन्हीं लोगों की आँखों में, जो फौजी वर्दी में अपना-अपना राष्ट्रध्वज उतारने जाते हैं, नफरत और दुश्मनी का समुन्दर लहराने लगता है, जिन्होंने उसी दोपहर तरबूज और खरबूजे खाये थे और एक दूसरे के गीत और गाने सुने थे! राष्ट्रवाद का यह बेहूदा नाटक हर शाम वाघा बार्डर पर खेला जाता है। इसे देखने के लिए दोनों तरफ सैकड़ों लोग जमा होते हैं! और कितनी अन्तर्विरोधी है यह सच्चाई भी कि लाहौर फोर्ट का दिल्ली दरवाजा और दिल्ली लालकिले का लाहौरी दरवाजा अपलक एक दूसरे की ओर देखते रहते हैं।

लेकिन इस रोमानी सच्चाई के नीचे कुछ और सच्चाइयाँ भी हैं जो विभाजन ने हमें दी हैं। साहित्य की सहृदयता और संवेदना की परम्परा के बावजूद हमें इन नई सच्चाइयों का सामना करना ही पड़ेगा और करना ही चाहिए। पाकिस्तान में सोच की दो मोटी-मोटी धाराएँ हैं : फौजी सोच की धारा और जन साधारण की अवामी सोच की धारा। फौजी सोच मानती है कि इण्डिया उसका जानी दुश्मन है, उससे उसकी सुलह तो कभी-कभी हो सकती है, पर स्थायी दोस्ती कभी नहीं हो सकती। यह सोच इण्डिया को हिन्दू देश (राष्ट्र नहीं) मानती है। और उसकी यह सोच भारत में लगातार होते रहने वाले साम्प्रदायिक दंगों, बाबरी मजिस्द विध्वंस और गुजरात के मुस्लिम नरसंहार के बाद और ज्यादा पुख्ता हुई है। धर्मनिरपेक्षता को वह दिखावा मानता है और लोकतन्त्र को तमाशा। फौजी सोच शुरू से ही ऐसी है। अवामी सोच इससे अलग रही है। जनसाधारण मानता है कि भारत सेकुलर है। भारत में लोकतंत्र भी है, पर वह यह भी मानता है कि इधर भारत में जुनूनी हिन्दू पैदा हुए हैं। जिनकी वजह से भारत के मुसलमानों के लिए खतरा बढ़ गया है पर वहाँ सेकुलर हिन्दू भी बहुत हैं, वे मिलकर जुनूनी हिन्दुओं का मुकाबला करते हैं। वे खुले दिमाग़ से यह भी मानते हैं कि पाकिस्तान में जेहादी कट्टरपंथी मुसलमानों की तादाद बहुत ज्यादा है! वे खतरे का लेविल पार कर चुके हैं, जबकि भारत में अभी ऐसा नहीं है। जुनूनी हिन्दू अभी खतरे के लेविल से बहुत नीचे हैं। लेकिन यह खतरा मामूली नहीं है और कभी भी खतरनाक बन सकता है, उसी तरह जैसे पाकिस्तान में जिया-उल-हक के जमाने में हुआ था। जिया-उल-हक ने भी मुल्ला-मौलवियों, मदरसों और मजहब का दामन थामा था, उसी तरह जैसे भारत में आज की भाजपा सरकार साधु-सन्तों, आरएसएस की शाखाओं और धर्म का दामन थाम कर चल रही है।

यह बातें बुद्धिजीवियों की नहीं, उन आम पाकिस्तानी लोगों की हैं जो हमारे सेमिनारों में शिरकत नहीं करते। सांस्कृतिक केन्द्र अलहमरा, लाहौर में चलते सेमिनारों से बाहर आकर यह कुछ बातें उनके साथ होती थीं जो वहाँ क्लर्क, छोटे बाबू, सुरक्षा कर्मचारी आदि थे। सिगरेट-चाय पीते हुए। आम पाकिस्तानी को नहीं मालूम कि भारत का हिन्दू कैसा होता है। वह उसके सम्पर्क में नहीं आता। होटल सनफोड, गुलबर्ग इलाके के बीस-

बाइस साल के नौजवान बेयरे ने पहली सुबह मुझे कुछ इस अन्दाज से देखा था कि अच्छा, भारत का हिन्दू ऐसा होता है...ऐसा ही जैसे हम हैं! यह तो हमारे ही जैसा है। उसी तरह बातचीत करता है, भाषा भी हमारी जैसी बोलता है। यह इसलिए कि जो उसे छोटी क्लासों में बताया या पढ़ाया गया है, वही उसे मालूम है। उसके लिए हिन्दू का मतलब होता है बिरहमन (ब्राह्मण) या अधिक से अधिक व्यापारी बनिया। उन्हें लगता है कि भारत की फिल्मों में जो हिन्दू या मुसलमान हीरो-हिरोइनें नाचती गाती दिखाई देती हैं, वे सिर्फ बम्बई नाम के टापू में होती हैं। यह मैं सिर्फ अनपढ़-अधपढ़े टैक्सीवाले, खच्चरवाले, हमाल वगैरह के हवाले से कह रहा हूँ। वहाँ तीन नाम प्रचलित हैं-सबसे निचले पायदान के लोग हिन्दुस्तान बोलते हैं, थोड़े पढ़े लिखे निम्न वर्ग के लोग भारत शब्द का इस्तेमाल करते हैं, पर फौजी सिर्फ इण्डिया ही बोलता है।

प्राध्यापक या उस तरह का पढ़ा-लिखा वर्ग मुल्लाओं और जेहादियों से मुक्ति चाहता है, मजहबी पार्टियों ने मिलकर फ्रण्टियर सूबे में जो सरकार बनाई है और जिस तरह शरियत लागू की है, उससे वे सहमत नहीं हैं, बल्कि परेशान हैं। वे मजहबी कट्टरवाद से ऊबे हुए हैं। वे भारत के हिन्दुत्ववाद को भी वैसा ही खतरा मानते हैं। वे लोकतन्त्र और सेकुलर राजनीति के हिमायती हैं! वहाँ सेकुलरिज्म की परिभाषा कुछ अलग है, क्योंकि वहाँ अल्पसंख्यक हिन्दू, पारसी, ईसाई और सिख नगण्य हैं। उन्हें इस्लाम तो चाहिए पर इतना अधिक इस्लाम नहीं चाहिए, जितना उन पर लाद दिया गया है। वे अपनी औसत जिन्दगी में मजहब का गैर-जरूरी दखल नहीं चाहते। सेकुलरिज्म की जरूरत उन्हें निजी, पारिवारिक और खानदानी जिन्दगी के लिए है...वे बहुत हद तक एकरसता और एकरूपता से आजिज आ गए हैं, वे विविधता चाहते हैं। शायद इन शब्दों में नहीं, जो मैंने लिखे हैं पर उनके शब्दों की कोख में छिपे अर्थों को पहचाना जा सकता है।

फिलहाल एक रोचक प्रसंग। मजनू गोरखपुरी उर्दू के विख्यात व्यक्तित्व, बुद्धिजीवी और लेखक रहे हैं। वे फ़िराक गोरखपुरी के अभिन्न मित्र थे। बड़े तीखे तेवरों वाले आदमी। न जाने क्यों काफी बरसों बाद वे पाकिस्तान पलायन कर गए। दो एक बरस बाद वे मिलने-मिलाने भारत आए। फिराक साहब से भी मिले। फिराक साहब ने पूछा-मियाँ कैसा लग रहा है वहाँ? तो मजनू गोरखपुरी ने कहा-वैसे तो सब ठीक है, लेकिन वहाँ मुसलमान बहुत हैं।

पाकिस्तान का यह सफर

पिछला सम्मेलन मालदीव में हुआ था। तब भारत-पाक रिश्ते बहुत बिगड़े हुए थे। रेल, बस और हवाई सफर बन्द थे, इसलिए पाकिस्तान के प्रतिनिधि भारत से मालदीव नहीं जा सके थे। वे दुबई होते हुए मालदीव पहुँचे थे। मालदीव सैकड़ों टापुओं का देश है। यह हिन्द महासागर में श्रीलंका के पास है। सैकड़ों टापुओं का यह देश इस्लामिक रिपब्लिक है। यहाँ का राजधर्म इस्लाम है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सैलानियों का स्वर्ग है। पानी इतना साफ है कि समुद्रतल को खुली आखों से देखा जा सकता है। समुद्रतल के कोरल के जंगल देखे जा सकते हैं। मछलियों और समुद्री प्रकृति के जीवों को देखा जा सकता है। समुद्र तट चाँदी की रेत का खजाना है। यहाँ की भाषा संस्कृत और सिंहली से विकसित हुई है और लिपि अरबी से। इस्लामी देश होने के बावजूद यहाँ शराब या खानपान पर कोई इस्लामिक प्रतिबन्ध नहीं है। यह सब बताने की जरूरत इसलिए है कि हम इस्लामिक देशों को बहुत ही दकियानूस और कट्टरपंथी मानने की मानसिकता से ग्रस्त हैं।

मालदीव में कांफ्रेस खत्म हुई तो एक दिन घूमने-घामने का था। तो मालदीप के एक नुमाइन्दे ने हमसे पूछा कि क्या हम मालदीव की राजधानी माले देखना पसन्द करेंगे! हमारे साथ बार में पाकिस्तान के अजीम शायर अहमद फराज और वहाँ के सबसे बड़े कथाकार इन्तजार हुसैन बैठे हुए थे। तो अहमद फराज ने मेजवान से पूछा कि राजधानी माले में देखने लायक क्या है? उसने जवाब दिया कि माले की गोल्डन मस्जिद! तो अहमद फराज़ ने कहा कि उसी से बचने के लिए तो हम यहाँ आए हैं! हमें मस्जिदें मत दिखाइए!

उस वक्त अहमद फराज़ का यह जुमला कुछ दिखावटी-सा लगा था। लेकिन इसकी असलियत और आत्मा की पहचान तब हुई जब हम पाकिस्तान पहुँचे। हम लेखकों ने तय किया था कि हम उस रास्ते से पाकिस्तान जाएँगे, जिससे दोनों देशों की गरीब जनता आती-जाती है। यहाँ फिर दोहरा दूँ कि दिल्ली से हम लेखकों का सफर वाघा बार्डर की ओर शुरू हुआ। हम सब दिल्ली-अमृतसर शताब्दी से रवाना हुए। अमृतसर में दोपहर का खाना खा कर वाघा बार्डर की ओर निकल पड़े...रास्ते भर पंजाब के हरे भरे गाँव पड़ते रहे जिनमें पंजाबी किसान नहीं, बिहार और उत्तर प्रदेश के किसान काम करते दिखाई दिए। तो पंजाब के दलित लेखक बलबीर माधोपुरी ने बताया-चौंकिए मत! यहाँ आकर बिहार और उत्तर प्रदेश के मजदूर खेतों में काम करते हैं। वे सिख सरदार हो गये हैं। वे गुरुबानी सुनते और गुरुद्वारों में मत्था टेकने जाते हैं। उनके बच्चे पंजाबी पढ़ते हैं। लेकिन पंजाब का

किसान सामंत हो गया है, वह ट्रैक्टर लेकर शहरों में कैबरे देखने जाता है, रम पीता है, मुर्गा-शुर्गा खाता है। उसके बच्चे अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ने जाते हैं, और कामचलाऊ अंग्रेजी पढ़कर कनाडा या अमेरिका चले जाते हैं!

तो खैर, हम पैदली रास्ते से वाघा बार्डर पहुँचे। कोई बाधा नहीं हुई। भारत के गरीब कुलियों ने हमारा सामान सिर पर उठाया और बार्डर पर खड़े उतने ही गरीब पाकिस्तान कुलियों को उनकी उम्र का ख्याल करते हुए भारी सामान जवानों को और हल्का सामान बूढ़ों को सौंप दिया। यह हमारी इन्सानी तहजीब का रिश्ता है कि हम अपने बुजुर्ग मजदूरों का अभी भी ख्याल रखते हैं!

लाहौर पहुँच कर जो पहला उद्घाटन सैशन हुआ, उसमें इस सम्मेलन की एक संयोजिका फौजिया ने कहा कि हमें इस्लामी पहचान से ज्यादा एशियाई पहचान की जरूरत है ताकि हम अपनी विरासत को समझें और उसे संभाल पाएँ! यहाँ आकर यह पक्का एहसास हुआ कि अहमद फराज ने मालदीव में जो कहा था, वह कितना सही था! कि हम मस्जिदों से भाग कर ही तो मालदीव में सुकून से ठहरने आए हैं!

लाहौर पहुँचकर लगा ही नहीं कि वहाँ की औरतें बुर्कों में बन्द हैं! वे वैसी ही थीं जैसी हम दिल्ली में देखते हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार चूड़ियाँ पहने और कोई-कोई माथे पर बिन्दियाँ लगाए हुए, मगर महिलाओं की समस्याओं पर भारतीय महिलाओं से कहीं अधिक कारगर और मुखर रूप में बोलते हुए। यहाँ आकर ही इस नारी-शक्ति को पहचाना जा सकता है। कट्टरपंथी मजहब का यहाँ कोई दखल नहीं था।

और तो और, पाकिस्तान के पाठ्यक्रमों में पढ़ाये जा रहे इतिहास को लेकर वहाँ भारत से भी ज्यादा विरोधी स्वर उठ रहे हैं! और माँग की जा रही है कि नई नस्ल को सिन्धु सभ्यता से लेकर पाकिस्तान बनने तक का सही और निष्पक्ष इतिहास पढ़ाया जाए। यह सही है कि पाकिस्तान इस्लामी देश है, वह मजहब के नाम पर ही बना है लेकिन वहाँ के बुद्धिजीवी समाज में मौलवी-मुल्लाओं की मौजूदगी और जकड़बन्दी का जबरदस्त विरोध और प्रतिरोध है। पाकिस्तान की क्रिकेट में तो हमें फिर भी सकलेन मुश्ताक और सईद अनवर जैसे दाढ़ी बढ़ाये हुए दो मुसलमान दिखाई दिए, जो खेलकूद में भी मजहब को घसीट लाये हैं पर पाकिस्तान के लेखक-बुद्धिजीवी समाज में ऐसी जड़ता कहीं नहीं है। एक कथा गोष्ठी में कृश्न चन्दर, राजिन्दर सिंह बेदी और मण्टो के बड़े-बड़े चित्र लगे दिखाई दिए। साहित्य के इतिहास और परम्पराओं को लेकर वहाँ कोई विभाजन नहीं है। कमी है तो सिर्फ जानकारियों की क्योंकि भारत की पुस्तकें और पत्रिकाएँ वहाँ आसानी से नहीं पहुँच पातीं।

और यह आकस्मिक नहीं था कि इस चार दिवसीय सम्मेलन में महाकवि इकबाल के बेटे जावेद इकबाल ने भी शिरकत की थी और इकबाल को कोट करते हुए कहा था कि 'राष्ट्र और देश कवियों के दिलों में जनमते हैं और राजनेताओं व्दारा बरबाद किए जाते हैं!' यह इशारा बहुत महत्वपूर्ण था और यह बात और स्वर बार-बार, तरह-तरह से उभर कर सामने आता था कि हमारे धर्म अलग-अलग हो सकते हैं, पर हमारे इतिहास और संस्कृति की जड़ें एक ही हैं। वैसे यह कहना गलत होगा कि इस समझ को लेकर वहाँ असहमति के स्वर नहीं हैं, पर वे वहाँ हावी नहीं हो सकते हैं, वहाँ की पत्रकारिता और लेखन ने अपनी

अभिव्यक्ति की आजादी अर्जित की है। वह स्वतन्त्र है। वहाँ यह सच्चाई शिद्दत से उभर कर सामने आई कि भारत-पाक रिश्तों में चाहे राजनीतिक गतिरोध आ भी जाए पर साहित्यिक-सांस्कृतिक रिश्तों में यह गतिरोध नहीं आने दिया जाएगा।

कौम की तलाश में एक देश

ताज्जुब मुझे तब हुआ जब एक परिचित बुजुर्गवार का फोन पाकिस्तान से आया। वे किसी टेलीफोनवाले की दूकान से फोन कर रहे थे। दुआ सलाम के बाद उन्होंने एक जुमला कहा-भाईजान! यह जो हुआ है, अपने हिन्दुस्तान में ही हो सकता था! मैं उनके जुमले के सन्दर्भ को नहीं समझा, पर उनकी अगली बात से सारी बात स्पष्ट हो गई-सोनिया गाँधी ने तो इस कलजुग में त्याग की मिसाल कायम कर दी। 'नवा-ए-वक्त' ने लिखा है कि पाकिस्तानी सियासतदानों और हुक्मरानों को इससे सबक लेना चाहिए... ऐसा तो दुनिया में आज तक कहीं हुआ नहीं है...और अगर मैं ग़लत नहीं हूँ तो शायद हिन्दुस्तान ने पहला ग़ैर-हिन्दू (यानी-सिख) प्राइम मिनिस्टर चुना है...हम तो अपने हुक्मरानों से मिल नहीं पाते, आप तो मिलते होंगे। मिलें तो सोनिया गाँधी को मेरा सलाम भी दीजिएगा! इस बातचीत में 'अपने हिन्दुस्तान', 'कलजुग' और 'त्याग की मिसाल उन्हीं के शब्द हैं।

और 'डॉन' अखबार के अपने कॉलम में पाकिस्तान के प्रख्यात कथाकार इंतजार हुसैन साहब ने लिखा कि भारत का हिन्दी कथाकार कमलेश्वर तो असल में उर्दू का लेखक है। वह नागरी स्क्रिप्ट में उर्दू लिखता है। और अपनी असमिया लेखिका इंदिरा गोस्वामी के लिए उन्होंने लिखा कि भारत की इंदिरा गोस्वामी जैसी लेखिका की बहुत ज्यादा जरूरत पाकिस्तान को है। इन्तजार हुसैन जैसे बड़े लेखक और कराची के बुजुर्गवार की बातें कतई दो तरह की बातें हैं, एक दूसरे से इनका सिरा भी नहीं जुड़ता, लेकिन इन बातों को यदि गहराई से देखा जाए तो इनमें एक विखण्डित कल्चर की कराहती आवाज है। यह कराह सुनाई तो नहीं पड़ती, पर इसे महसूस किया जा सकता है। आखिर क्यों पाकिस्तान के इस आला दिमाग सर्वश्रेष्ठ लेखक को इन्दिरा गोस्वामी की जरूरत महसूस होती है? वहाँ लेखकों-शायरों की कमी तो नहीं है! ...इसे समझा जाए तो यह 'कल्चरल एक्सपीरियेंस' और शायद साथ कल्चरल वैराइटी की कमी है।

एक अहम बात संगेमील पब्लिशिंग हाउस के बड़े से शोरूम में उठी थी। उसके मालिक नियाज़ साहब ने हमें दोपहर के खाने पर बुलाया था। वहाँ सात-आठ पाकिस्तानी दानिशवर भी मौजूद थे। उन्हीं में से एक ने कहा था कि अपनी पाकिस्तानी पहचान की हमें सख्त जरूरत है। हम अपने को आखिर क्या कहें? हम खुद को अगर 'गैर-इण्डियन' कहें तो

उससे भी बात नहीं बनती। तब तक किताबों की अल्मारियों में से दूसरे साहब एक किताब उठा लाए थे। नाम था 'द इंडस सागा' (सिन्ध नदी की महागाथा)। लेखक हैं समाजशास्त्री और इतिहासकार ऐतजाज अहसन। उन्होंने पाकिस्तान की पहचान और अस्मिता के लिए अतीत को नकारने की मनोवृत्ति को आत्मघाती माना है। जो साहब किताब उठाकर लाये थे, वे अहसन साहब की स्थापनाओं का खुलासा कर रहे थे। मैं चुपचाप सुन रहा था। ताज्जुब है कि यह बहस पाकिस्तान के दानिशवरों के बीच चल रही है। ऐसी खुली बहस तो मैंने भारत के मुस्लिम दानिशवरों के बीच भी नहीं सुनी थी। किताब लाने वाले वही साहब बता रहे थे कि अहसन साहब ने एक सेकुलर (इस शब्द पर पाठक ध्यान दें) फार्मूला दिया है। उनका कहना है कि कल्चर को बनाने में मजहब एक नर्स (धाय-दाई) का रोल अदा करती है। कल्चर जब अपने पैरों पर खड़ी होकर चलने लगती है। तो उसे नर्स की जरूरत नहीं रह जाती।

—यही तो हमारी मुश्किल है, क्योंकि पाकिस्तान इस्लामी पहचान पर बना है। इसलिए वह अपनी इलाकाई और पालिटिकल पहचान की खातिर इस्लाम से अपना ताल्लुक नहीं तोड़ सकता, पर कल्चर को सिर्फ इस्लाम तक महदूद नहीं किया जा सकता।

—इसी का रास्ता तो अहसन साहब ने निकाला है। वे कहते हैं कि अगर हम भारत की कल्चर से अलग दिखना ही चाहते हैं तो इसका एक ही रास्ता है कि हम खुद को अल-सिन्ध की सभ्यता का वारिस मान लें! और भारत को अल-हिन्द की सभ्यता का वारिस। सिन्ध नदी पाकिस्तानी नदी है। अल-सिन्ध और अल-हिन्द का इतिहास भी अलग है। आधुनिक पाकिस्तान को अल-सिन्ध की सभ्यता की पहचान से ही जोड़ा जा सकता है।

—लेकिन आर्यें के वेद तो सिन्ध के किनारे ही लिखे गए...क्या पाकिस्तानी उन वेदों को अपना मान सकता है?

—इसीलिए तो अहसन साहब कहते हैं कि हम उन्हें अपना मानें या न मानें पर वे हैं तो हमारे ही...वैसे ही जैसे कि तक्षशिला और मोहन-जोदड़ो हमारे हैं। इसी तरह पाणिनि, चाणक्य और चरक भी हमारे पूर्वज हैं। हम उन्हें अपनी आस्था की वजह से अपना माने या न मानें पर वे हमारी सिन्ध नदी की तरह ही हमारे भूगोल और इतिहास का हिस्सा हैं। अल-सिन्ध की यही पहचान है। अल-हिन्द की पहचान महाभारत और गंगा-जमुना से है...अगर हम अपनी इस्लामी पहचान को छोड़कर सेकुलर नहीं बन सकते तो अल-सिन्ध और अल-हिन्द तक ही बँटवारा किया जा सकता है, वैसे कल्चर का बँटवारा नहीं हो सकता। उसी तरह जैसे इस्लाम का बँटवारा नहीं हो सकता! ...

इतना खुला विश्लेषण सुनकर मैं दंग था। और वह भी पाकिस्तान के लाहौर में! इसी के साथ यह कह देना भी जरूरी है कि यह सोच पाकिस्तान के प्रगतिशील बुद्धिजीवियों की है। यह सोच वहाँ के आम आदमी तक न पहुँची है, न पहुँचने दी गयी है। इस वैक्यूम या शून्य का एक बड़ा कारण और है। उर्दू की पूरी कल्चर भारतीय और ईरानी है। अपनी विशुद्ध इस्लामी पहचान की तलाश में पाकिस्तान अरब देशों और वहाँ की संस्कृति की ओर मुड़ गया। इसकी वजह से भी वहाँ पहचान का संकट खड़ा हो गया। वहाँ के निजाम ने फारसी के खुदा की जगह अरबी के अल्लाह शब्द को लागू किया। पाकिस्तान टी वी और सरकारी इदारों में 'खुदा हाफिज' की जगह 'अल्लाह हाफिज' आ गया। इसकी एक वजह

यह भी है कि ईरान शिया मुल्क है और अरब देश सुन्नी हैं। पाकिस्तान में सुन्नी बहुमत है। आए दिन वहाँ शिया-सुन्नी मारकाट होती रहती है। लेकिन वहाँ के अवाम ने अल्लाह हाफिज को फिर भी मंजूर नहीं किया। वहाँ कशमकश यही है कि धर्मांध लोग जिन्दगी को किताबों में बन्द करना चाहते हैं और जिन्दगी किताबों से निकल कर खुली हवा में साँस लेना चाहती है!

वहाँ हादसा यह हुआ कि जब दो कौमी सिद्धान्त पर विभाजन की माँग की गयी, तब इस्लाम का इस्तेमाल कौम के रूप में किया गया। लेकिन पाकिस्तान बनने के बाद इस्लाम का रोल ही बदल गया। जिन्ना साहब ने 1947 में पाकिस्तान की संविधान सभा में कहा था-’पाकिस्तान बन गया। अब तुम आजाद हो। तुम अपने मन्दिरों में जा सकते हो, अपनी मस्जिदों में जा सकते हो। चाहे तुम किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या जाति के हो। राज सत्ता का इससे कोई लेना-देना नहीं है।’ लेकिन जिन्ना साहब की इस सेकुलर सोच को दफना दिया गया। वे जान गए थे कि मजहबी राजनीति से देश तो बन गया, पर मजहब से कल्चर और कौम का निर्माण नहीं किया जा सकता। अब इस्लाम का इस्तेमाल वहाँ जातीय, भाषाई और स्थानीय पहचान को दबाने में किया जा रहा है। कुछ-कुछ उसी तर्ज पर जैसे अपने यहाँ ‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद’ कर रहा था। किश्वर नाहीद ने सही ही कहा कि सन 47 में कौम को एक देश की तलाश थी, अब देश को कौम की तलाश है।

यही तो वक्त है सूरज तेरे निकलने का!

'जाने क्यों तुमसे मिलने की आशा कम, विश्वास बहुत है!' यह हिन्दी कवि बलवीर सिंह 'रंग' की प्रसिद्ध ग़ज़ल की एक पंक्ति है। दक्षेस (सार्क) सम्मेलन के इस अत्यन्त महत्वपूर्ण अवसर पर यह पंक्ति मेरे मन में गूँज रही है! भारत-पाकिस्तान के रिश्तों के सँवर सकने का यह ऐतिहासिक अवसर है। इस अवसर का सकारात्मक पक्ष यह है कि दोनों ही देशों ने आपसी सम्बन्ध सुधारने की साहसिक पहल की है। भारत के प्रधानमन्त्री वाजपेयी ने आपदाग्रस्त और आतंकग्रस्त पाकिस्तान की सच्चाई और मजबूरी को एक बड़े नेता के रूप में समझा है, और दोनों देशों की जनता की भावनाओं और इच्छाओं को सम्मान दिया है। यही पाकिस्तान के राष्ट्रपति मुशर्रफ ने भी किया है। इधर पिछले पखवाड़े में पूरा राजनीतिक परिदृश्य बड़ी तेजी से बदला है। कहना तो यह चाहिए कि यह परिदृश्य 13 दिसम्बर 2001 के उस मनहूस दिन से बदलना शुरू हुआ जिस दिन पाक पोषित आतंकवादियों ने भारतीय संसद पर नाकाम हमला किया। यह हमला स्वयं उन पाकिस्तानी नेताओं के लिए चेतावनी था, जो अफगानिस्तान युद्ध में अमेरिका के पक्ष में पाला बदल चुके थे। लेकिन यही वह संकट का समय भी था, जहाँ से पाकिस्तान में जन्मे आतंकवाद पर स्वयं पाकिस्तान का दिलो-दिमाग सतर्क और सावधान हुआ था। इससे पाकिस्तानी हुक्मरानों के सामने यह स्पष्ट हुआ था कि उनके देश के जेहादी संगठन उनके नियन्त्रण से बाहर जा चुके हैं, और वे किसी भी दिन पाकिस्तानी सरकार और उसके नेताओं को निशाना बना सकते हैं।

और यही हुआ भी। परवेज मुशर्रफ पर बीते दिसम्बर में ग्यारह दिनों के बीच दो जानलेवा हमले हुए, क्योंकि आतंकवादी भारत से शान्ति और सम्बन्ध बहाली के साहसिक प्रयासों से बौखलाए हुए थे। प्रधानमन्त्री वाजपेयी ने रिश्ते सुधारने के लिए तरह-तरह से पहल की। इनमें से दो प्रस्ताव उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता का पुख्ता प्रणाम हैं। कश्मीर की राजधानी श्रीनगर से पाक अधिकृत कश्मीर के मुजफ्फराबाद तक बस चलाने का प्रस्ताव तो उनका तुरुप का पता था। यह तभी सम्भव हो सकता था, जब मुजफ्फराबाद जाने और आनेवाली बस को आतंकवादियों से निरापद बनाया जा सकता। इसकी गारण्टी पाकिस्तान ही दे सकता है क्योंकि यह उसका दायित्व है। इस पहल से आतंकवादियों के पैर तले की जमीन धसक गयी। हालाँकि प्रधानमन्त्री वाजपेयी का दूसरा प्रस्ताव दूरगामी लक्ष्य लिए हुए है, पर आतंकवाद को ध्वस्त करने का वह अचूक अस्त्र है। वह है दक्षिण

एशयाई देशों के बाज़ार खोलने और एक 'कामन करेंसी' के प्रचलन का प्रस्ताव। अगर भविष्य में यह सम्भव हो सका तो आतंकवादी संगठनों के आर्थिक स्रोत निश्चय ही सूख जाएँगे!

तात्कालिक रूप से देखा जाए तो दक्षेस (सार्क) शिखर सम्मेलन एक स्वर्णिम अवसर बनकर आया है। दक्षिण एशिया के अन्य देशों की आपसी साझेदारी का तो यह मौका है ही, भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों में सुधार लाने और स्थायी शान्ति कायम कर सकने का यह ऐतिहासिक अवसर साबित होने जा रहा है। दोनों देशों से ज़्यादा अब पाकिस्तान के सामने यह स्पष्ट है कि आतंकवादियों की बन्दूकों का रुख उस की ओर मुड़ चुका है। इस्लामाबाद से रावलपिण्डी जाने वाली जिस सड़क पर, परवेज मुशर्रफ पर दो बार हमले हुए हैं, उसके एक मुहाने पर सुरक्षा के लिए पुलिस तैनात है और दूसरे मुहाने पर पाकिस्तानी फौज, क्योंकि वह रावलपिण्डी छावनी का इलाका है। इससे साफ जाहिर है कि फौज और पुलिस के वे लोग इन हमलों में शामिल हैं जो अभी भी इस्लामी कट्टरपन्थियों का साथ दे रहे हैं। जो पाकिस्तान को एक सभ्य देश के रूप में उभरते हुए नहीं देखना चाहते! पाकिस्तान के लिए यह अत्यन्त कठिन समय है। लेकिन परवेज मुशर्रफ ने बहुत बहादुरी दिखाई है, नहीं तो यह शिखर सम्मेलन स्थगित भी हो सकता था। प्रधानमन्त्री वाजपेयी ने भी आत्मविश्वासी बड़े नेता के रूप में पहल की है। दोनों ही नेता बड़ा खतरा उठा रहे हैं। पर यह खतरा उठाया ही जाना चाहिए। प्रधानमन्त्री वाजपेयी का शिखर सम्मेलन के लिए रवाना होने से पहले यह बयान कि मेरे जीते जी कश्मीर समस्या का हल सम्भव है, इससे सार्क सम्मेलन के सफल होने का भरपूर संकेत मिलता है। साथ ही अन्तराष्ट्रीय सीमा, नियन्त्रण-रेखा और सियाचिन क्षेत्र में जो अस्थायी युद्ध विराम पाकिस्तान ने घोषित कर रखा है, उसे स्थाई बनाने की पेशकश विदेश मन्त्री यशवन्त सिन्हा ने की है। दोनों देशों के यात्री विमान एक-दूसरे की धरती को सलामी दे रहे हैं! यह अच्छे आसार हैं।

और फिर पुराने मतभेदों को लेकर दोस्ती और भाईचारे की जो 'आशा कम' दिखाई देती थी, उसे दोनों देशों की जनता में 'विश्वास बहुत है' की भावना में बदल दिया है! यह विश्वास ही जीतेगा! शायर शहरयार के शब्दों में कहूँ, तो—

स्याह रात लेती नहीं है नाम ढलने का
यही तो वक्त है सूरज तेरे निकलने का?

पाकिस्तानी अवाम के दिल की धड़कनें

भारत के लोकतांत्रिक चुनावों में पाकिस्तान के औसत सोचने-समझनेवालों की गहरी दिलचस्पी है। वे उत्सुक रहते हैं यह देखने के लिए कि भारत किस करवट बैठता है। वे औसत पाकिस्तानी अपने देश की कई करवटों से चिन्तित हैं तो भारत दोस्ती का स्वागत करते हुए भी, भारत की कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक करवटों को लेकर पशेभान और परेशान भी हैं। पहले तो यह बता दूँ। कि पाकिस्तान के जनसाधारण की सोच और नजरिया वह नहीं है, जो वहाँ के फौजी हुक्मरानों का है। वहाँ की नौजवान पीढ़ी नहीं जानती कि सन् 1947 का विभाजन क्यों हुआ। वे सिर्फ यह जानते हैं कि उनके देश के पच्छिम में इस्लामी देश ईरान है, उत्तर में इस्लामी देश अफगानिस्तान, पर पूरब में हिन्दुस्तान नाम का वह देश है जो उनके पाकिस्तान को मंजूर नहीं करता और उसे खत्म कर देना चाहता है। ऐसा उन्हें पाठ्यक्रम की किताबों में पढ़ाया गया है। उन्हें यह भी नहीं मालूम कि अंग्रेजों की गुलामी से हिन्दुस्तान (पाकिस्तान) की आजादी की लड़ाई एक साथ लड़ी गयी थी। उस लड़ाई ने हिन्दुस्तान को तो आज़ाद कराया ही था और उसी लड़ाई की ग़लत या सही वजहों से पाकिस्तान नाम का मुल्क पैदा हुआ था। पाकिस्तान की नई पीढ़ी को यह नहीं मालूम कि भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, अशफाकुल्लाह कौन थे और आज़ादी की 1857 की पहली लड़ाई हिन्दू-मुसलमानों ने अलग-अलग नहीं, हिन्दुस्तानी के रूप में एक साथ लड़ी थी। गांधी जी का नाम थोड़ा बहुत उन्होंने सुना है लेकिन सुभाषचन्द्र बोस, मौलाना आजाद, अरूण आसफ अली, खान अब्दुल गफ्फार खान, शाह नवाज खान, डॉ. जाकिर हुसैन और हमारे वर्तमान राष्ट्रपति अब्दुल कलाम साहब कौन हैं, यह उन्हें नहीं बताया जाता। उन्हें यह नहीं मालूम कि पाकिस्तान की कुल मुस्लिम आबादी से ज़्यादा मुसलमान भारत में रहते हैं, लेकिन उन्हें सोच-समझ कर यह ज़रूर बताया गया है कि भारत का हिन्दू पाकिस्तान को हड़प कर अखण्ड भारत बनाना चाहता है।

पाकिस्तान की नई पीढ़ी को यह बताया ही नहीं गया है कि इस्लाम के उदय से पहले भी उनका कोई इतिहास रहा है! उनका इतिहास इस्लाम के उदय से ही शुरू होता है इसलिए सिन्ध प्रान्त को विजय करने और सिन्ध के राजा दाहर को परास्त करने वाले सातवीं सदी के मीर कासिम और अगली सदियों के आक्रमणकारी महमूद गजनबी और मुम्मद गौरी को ही वे अपने इस्लामी इतिहास का नायक और हीरो मानते हैं! इस सफर में

जनसाधारण की जेहनियत की यह जानकारियाँ पाकर मैं हताश और हैरान था। बातचीत के दौरान वे सब लोग इराक के आज के दुःखद हालात को देखकर तो बहुत परेशान लगे, लेकिन इराक की पुरानी सुमेरी सभ्यता से उनका कोई लेना-देना नहीं था। इराक का उनका इतिहास भी वहीं से शुरू होता है, जब वहाँ इस्लाम फैला और बगदाद में इस्लामी खलीफा की गद्दी स्थापित हुई। लाहौर के सांस्कृतिक केन्द्र अलहमरा में सार्क देशों का जो सम्मेलन चल रहा था, उसमें भी पाकिस्तान के प्रतिनिधियों ने अपने स्कूली पाठ्यक्रम पर आरोप लगाए थे, कि उनके स्कूलों में मज़हब के नाम पर आनेवाली पीढ़ियों को तोड़ा-मरोड़ा गया सीमित इतिहास ही पढ़ाया जा रहा है और खासतौर से हिन्दुस्तान के खिलाफ नफरत की शिक्षा दी जा रही है। नाम लेना उचित नहीं होगा लेकिन लाहौर यूनिवर्सिटी के एक प्राध्यापक ने खुलकर यह कहा था कि पाकिस्तान में वह चाहे फौजी सत्ता हो या मज़हबी संस्थाएँ और उनके मदरसे, वे तीस परसेण्ट अमेरिकी हथियार व पैसे, तीस परसेण्ट सऊदी अरब की आर्थिक और मज़हबी मदद, तीस परसेण्ट हिन्दुस्तान दुश्मनी और नफरत तथा दस परसेण्ट अल्ला मियाँ के रहमो-करम पर ही चलते हैं।

यहाँ गौर करने की बात यह है कि पाकिस्तान में ऐसे लोगों और आवाज़ों की कमी नहीं है, जो अपने यहाँ की व्यवस्थागत जड़ता से जूझ रहे हैं। यह जानकारियाँ हम तक पहुँच नहीं पाती हैं। उनकी जागरूकता की जानकारी तब और मिली जब उन्हीं में से एक ने कहा कि इधर भारत में भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के दौर में पाठ्यक्रमों में बदलाव किए जा रहे हैं, जिसका विरोध भारतीय बुद्धिजीवियों को करना चाहिए क्योंकि हम अपने अलग-अलग देशों में रहते हुए भी एक साझा खुला समाज बनाना चाहते हैं! वैसे लोकतन्त्र के कारण भारतीय समाज बहुत खुला हुआ है, पर 'बोतलबन्द पाठ्यक्रम' से वहाँ भी वही नुकसान हो सकता है जो पाकिस्तान आज भुगत रहा है और जिससे वह जल्द से जल्द आज़ाद होने की कोशिश कर रहा है।

मैं वहाँ के जानसाधारण की बात कर रहा हूँ। लाहौर के मशहूर इलाके गुलबर्ग के एक दुकानदार से बातचीत में यह बात भी सामने आई कि वे भारत इजराइल की बढ़ती दोस्ती को वे पसन्द नहीं करते। वे मानते हैं कि इस्लाम के नाम पर चल रहे आतंकवाद ने इस दोस्ती को अमेरिकी दबाव में आकर अंजाम दिया है, लेकिन इससे जो हिन्दू-यहूदी (यहू-दो-हनोद) एक्सिस-धुरी बनी है वह मुसलमान मुल्कों के लिए खतरनाक साबित हो सकती है। संगेमील पब्लिकेशंस, लोअर माल रोड पर, उनके शोरूम के नीचे कुछ नौजवान विद्यार्थियों से मुलाकात हुई। वहाँ किसी कॉलेज के लड़कों से पुलिस की झड़प हो चुकी थी। बातचीत लम्बी चल सकी क्योंकि पुलिस ने ट्रैफिक बन्द कर रखा था। हमारी बात-चीत में दो एक लेक्चरर भी आकर शामिल हो गए। 'हम और आप एक से हैं या एक ही हैं इस मुहावरे को वे मानते तो हैं पर पूरी तरह नहीं मान पाते। भारत से अलग अपनी पाकिस्तानी पहचान की उन्हें सख़्त ज़रूरत है। यही इसका मुख्य कारण है, 'हम एक से या एक ही हैं को वे बहुत तूल नहीं देना चाहते। इससे उन्हें लगता है कि हम इस तरह सन् 1947 की आज़ादी और विभाजन के इतिहास से उन्हें और भी पीछे घसीट कर ले जाना चाहते हैं। उन्हें बताया ही नहीं गया कि अंग्रेजी गुलामी के खिलाफ हिन्दू मुसलमानों ने साथ मिलकर सन् 1857 में आज़ादी की पहली लड़ाई लड़ी थी। वे पाकिस्तान को किसी भी

कीमत पर खोना नहीं चाहते। वह उनकी पहचान का सबसे अहम प्रतीक है। उनके दिमागों में इसके पीछे इस्लाम या इस्लामी राष्ट्रवाद उतना नहीं है जितना कि उनके लिए एक मुल्क का होना। वे अपनी पहचान को भारत या एशिया की पहचान में खो देना नहीं चाहते।

यही कारण है कि भारत के उप-प्रधानमन्त्री आडवाणी जब भारत-पाक-बांग्लादेश के महासंघ की बात करते हैं, तो वे सहज महसूस नहीं करते। यह आज के पाकिस्तानी के मन के संशय हैं, इन संशयों और चिन्ताओं को समझना ज़रूरी है। वे अपनी पहचान तो चाहते हैं, पर इसके लिए उन्होंने विभाजन से पहले की मिली-जुली भारतीय-हिन्दू-सिख पहचान को मिटा दिया हो, ऐसा भी नहीं है। पाठकों को आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि माल रोड पर स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज मन्दिर ज्यों का त्यों खड़ा है। आर्य समाज एंग्लो वेदान्तिक कॉलेज के नाम का देवनागरी में लिखा पत्थर अभी भी लगा है। सर गंगाराम, जानकी देवी और गुलाब देवी अस्पताल इन्हीं नामों से अभी भी कायम है। लाहौर का व्यस्ततम इलाका लक्ष्मी चौक वहीं का वहीं है और लक्ष्मी बिल्डिंग अभी भी उसी नाम की शानो-शौकत के साथ खड़ी है! वैसे बहुत कुछ बदल गया है वहाँ, पर सब कुछ अभी तक नहीं बदलता है, खास तौर से अवाम की भावनाएँ!

दोनों देशों की गरीबी

तो अलहमरा में मौजूदा सातों देश के सभी लेखक अब अपनी बड़ी भूमिका को रेखांकित कर रहे थे और स्वयं को मात्र दक्षिण-पूर्व ऐशिया या ऐशिया के सवालों से ही नहीं दुनिया के अहम इन्सानी सवालों से खुद को जुड़ा पा रहे थे। अब मात्र इन सात देशों के ही नहीं, लैटिन अमेरिका और अफ्रीका के सवाल भी हमारे सवाल थे। सच कहा जाए तो अलहमरा सांस्कृतिक केन्द्र का यह साहित्यिक मंच लेखकों-शायरों और अन्य बुद्धिजीवियों की स्वीकारोक्तियों का भी मंच बन गया था। जो भी इस मंच पर बोलने आता था, वह अपने दिलो-दिमाग को टटोलता था, अपनी आत्मा को दिल ही दिल खँगालता भी था। वह अपनी या अपने बुजुर्गों की सोच की ग़लतियों को खुले मन से मंजूर कर रहा था। इस सम्मेलन की यह बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

अल्लामा इकबाल जो हमारी उर्दू भाषा के सबसे बड़े शायर हैं और जो पाकिस्तान निर्माण के अग्रणी विचारक रहे हैं, उनके बेटे जावेद इकबाल भी इस सम्मेलन में लगातार मौजूद थे। वे भी बोले और उन्होंने बड़े खुलकर सांस्कृतिक सौहार्द को बढ़ाने की बातें तो कही ही, पर एक बहुत मार्के की उद्भावना उन्होंने सामने रखी। जावेद इकबाल ने कहा कि अपने देशों में बहुत-सी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक समानताएँ हैं पर एक बहुत महत्वपूर्ण आधुनिक समानता है, और वह है—गरीबी! और इस अलामत से लड़ना बेहद ज़रूरी है क्योंकि जब तक इन्सानी गरीबी का मसला औसतन हल नहीं होगा, तब तक इन्सानी फितरत में पैदा होते रहने वाले खमों-पेंचों की वजहों और मतभेद के सवालों के कारणों को समझना मुश्किल ही बना रहेगा। ज़्यादातर इन्सानी न्याय के सवाल गुरबत से जुड़े हुए हैं, इन्हें मानवीय न्याय के तहत हल किया जाना चाहिए और इसके लिए सोच और भावना की दर्दमन्दी का माहौल अदब ही बना सकता है।

इसके अलावा पाकिस्तान के विद्रोही इतिहासकार मुबारक अली ने प्राचीन जड़ों से रिश्ता जोड़ने का और अपनी पुरातन सभ्यता की विरासत को पहचानने और मानने पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि दिलों और दिमागों में भरे गर्दो-गुबार को अपनी विरासत की पीठिका में ही समझदारी से साफ किया जा सकता है। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, वैदिक सिन्ध सभ्यता, बौध्दकालीन सच्चाइयों और उन तमाम वक्तों के इंसानी सपनों को जाने बिना, हम अपने भविष्य का सही रास्ता नहीं बना सकते!

इसके अलावा मैं जिन खास बातों को रेखांकित करना चाहता हूँ बिल्कुल वही बातें

और लगभग उसी अन्दाज में अशोक वाजपेयी ने भी पेश की हैं। उनके विवरण में अल्लामा इकबाल के बेटे जावेद इकबाल की वे ज़रूरी बातें भी शामिल हैं, जिन्हें मैं आगे चलकर अपने पाठकों के सामने रखता। अशोक वाजपेयी के इस बहुत ही महत्वपूर्ण विवरण को मैं ज्यों का त्यों सामने रख रहा हूँ, क्यों कि मैं भी लिखता तो यही लिखता।

इस पर ध्यान कम गया है कि हालाँकि बुनियादी तौर पर सार्क की स्थापना एक राजनीतिक और आर्थिक कार्रवाई है, उसका सबसे सक्रिय रूप संस्कृति के क्षेत्र में नज़र आ रहा है। बल्कि साहित्य में, जहाँ अजीत कौर पिछले कई वर्षों से सार्क के लेखकों को कभी दिल्ली, कभी ढाका, काठमाण्डू मालदीव आदि में एक साथ जुटाती रही हैं और धीरे-धीरे यह गतिविधि चुपचाप सद्भावना, परस्पर मित्रता, समझदारी, सरोकारों की साझेदारी, अनुवाद आदि का एक आन्दोलन ही बन गयी है जिसमें सार्क देशों के अनेक महत्वपूर्ण लेखक और बुद्धिजीवी शामिल होते रहे हैं। उर्दू कवयित्री और नारीवादी कार्यकर्ता किश्वर नाहीद की अथक कोशिश और एक्सशन एड पाकिस्तान, पाकिस्तान साहित्य अकादेमी, हव्वा एसोशिएट्स और फाउण्डेशन ऑफ सार्क राइटर्स एण्ड लिटरेचर द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित इस दसवें सम्मेलन का उद्घाटन सत्र निरा औपचारिक और इसलिए उबाऊ होने की बजाए दिलचस्प और गरमाहट-भरा था। फैज की नज्म से शुरुआत हुई और अस्पताल में रिकॉर्ड किया गया प्रसिद्ध पाकिस्तानी लेखक अहमद नदीम कासिमी के सन्देश का टेप भी सुनाया गया। कासिमी साहब ने पते की बात यह कही, जो समूचे सार्क पर लागू होती है, कि 'रियासत जहाँ मुँह के बल गिरती है वहाँ अदब शान से ज़िंदा रहता है और ज़िंदा रहने में मदद करता है।'

यह थोड़ा विचित्र है कि जहाँ इस सम्मेलन को पाकिस्तानी सरकार और उसके कई इरादों का पूरा समर्थन और वित्तीय सहायता प्राप्त हुई, वहाँ भारत सरकार ने फाउण्डेशन को भारतीय लेखकों का मार्गव्यय उठाने तक के लिए मदद नहीं दी। सम्मेलन की एक आयोजिका डॉ. फौजिया सईद ने अपने स्वागत-वक्तव्य में पूरी बेबाकी से कहा कि सार्क में अपनी निजी पहचान बनाए रखने के साथ-साथ सामूहिक पहचान बनाई जानी चाहिए जो धार्मिक पहचान से अलग और भिन्न होगी। जोर बहुलता और एकजुटता पर होना चाहिए। श्रीलंका के तिस्सा अभयशेखर ने उचित ही यह रेखांकित किया कि सार्क राजनीतिक सचाई नहीं, सांस्कृतिक सचाई है लेकिन आगाह भी किया कि सांस्कृतिक प्रतीकों का राजनीतिक इस्तेमाल इस अंचल में चिन्तनीय रूप से बढ़ रहा है। बुजुर्ग पाकिस्तानी बुद्धिजीवी डॉ. मुबाशिर हुसैन की राय थी कि राष्ट्रवाद नया धर्म है जिसके कारण एक राष्ट्र के लोगों को दूसरे देश के लोगों को मारना ज़रूरी हो जाता है। राष्ट्रवाद के नाम पर धार्मिक उन्माद फैल रहा है। महाकवि इकबाल के पुत्र जावेद इक़बाल ने उनके इस कथन को उद्धृत किया कि राष्ट्र कवियों के हृदयों में जनमते हैं और राजनेताओं व्दारा नष्ट किए जाते हैं। उनके अनुसार सार्क की सबसे बड़ी साझेदारी ग़रीबी की है। इस क्षेत्र में भारत सबसे बड़ा भाई है सो सबसे अधिक कुर्बानी उसी को देनी चाहिए। अजीत कौर ने इकरार किया कि भारत-पाक दोनों गरीबी के अलावा बम भी शेयर करते हैं। युद्ध सत्ताओं व्दारा जीते जाते हैं लेकिन आम लोग हमेशा हारते रहे हैं। हम पानी, हवाएँ मानसून और गरीबी सब शेयर करते हैं। सार्क लेखकों का आन्दोलन उम्मीद और सपने बचाने के लिए, धरती और

उसकी सुन्दरता की रक्षा के लिए हैं। सपनों पर अब तक कोई बन्दिश नहीं लगा पाया है। 'दरीदा लिबास हम भी हैं' कहने वाले पाकिस्तानी कवि अहमद फ़राज ने कहा कि कविता पुरानी नहीं पड़ती क्योंकि हालत पुरानी नहीं पड़ती। उन्होंने एडवर्ड सईद की उस उक्ति को याद किया जिसमें लेखक का काम सत्ता से सच बोलना है और जोड़ा कि सच कमजोर से बोलना आसान है, असली हिम्मत तो तब है जब ताकतवर से सच बोला जाए।

नामवर सिंह ने एक प्रभावशाली और सुचिन्तित बीजभाषण में पिछली सहस्राब्दी में भारतीय परम्परा का जिस तरह से सूफियों और भक्त कवियों ने परिवर्द्धन-परिवर्तन किया, उसका विशद विवेचन करते हुए कहा कि इन कवियों ने प्रेम को पहली बार एक परम मूल्य के रूप में स्थापित किया। कुँवर नारायण ने उपमहाव्दीप के इतिहास और संस्कृति को समझने के लिए मध्य एशिया परिप्रेक्ष्य ज़रूरी बताया और बौद्ध अवदान की विशेष चर्चा की। प्रख्यात पाकिस्तानी कथाकार अब्दुल्ला हुसैन ने इस बात को नोट किया कि सार्क क्षेत्र में लेखकों की कोई सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं है और जरूरी है कि लेखक अपनी गरिमा वापस लाएँ। जाहिदा हिना ने कहा कि उपमहाव्दीप में नारी-विमर्श का प्रेरणा-स्रोत मीरा रही हैं। अनवर सज्जाद ने कहा कि दोनों तरफ भारत और पाकिस्तान में—गलत इतिहास पढ़ाया-फैलाया जा रहा है। एक नए किस्म का आर्थिक आतंकवाद भी छा रहा है। आसिफ फर्रुखी ने ज़ोर दिया कि घटनाओं से लेखकों की भूमिका नहीं बदल जाती और लेखक ही अपने समय का नागरिक-अन्त:करण होता है। उन्होंने हेनरी जेम्स के हवाले से यह स्थापना की कि हम अपने समय में सभ्यताओं की मुठभेड़ नहीं, सभ्यता का पतन देख रहे हैं।

सम्मेलन के अन्त में जो घोषणापत्र सर्वसम्मति से जारी किया गया उसमें माँग की गई है कि सार्क देशों की सरकारें रक्षा पर खर्च कम करें और सामाजिक क्षेत्र में विनिवेश बढ़ाएँ। इस क्षेत्र को आणविक हथियारों से सर्वथा मुक्त क्षेत्र बनाया जाए। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर जो हमले हो रहे हैं उन्हें फौरन रोका जाए। उसमें भारत-पाक शान्ति की पहल का स्वागत किया है।

कुल मिलाकर यह स्पष्ट हुआ कि पूरे क्षेत्र में लेखक प्रतिरोध की एक बिरादरी है। यह प्रतिरोध सत्ता की मूल्यहीनता और अवसरवादिता का, भूमण्डलीकरण की अन्धाधुन्ध दौड़ का, बाज़ार व्दारा समाज को अपदस्थ करने का, स्वतन्त्रता-समता-न्याय के मूल्यों की अवहलेना का प्रतिरोध है। साहित्य धीरे-धीरे एक नए किस्म का सत्याग्रह, सिविल नाफरमानी बन रहा है। बढ़ते धार्मिक उन्माद के बरक्स एक नया अध्यात्म जो प्रेम, विराटता और संगसाथ के मूल्यों का पुनर्वास कर रहा है। इस सम्बन्ध में अपने महत्व को लेकर लेखकों को कोई गलतफहमी नहीं है।

भारत-पाक : आज का परिदृश्य

भारत-पाकिस्तान के पास विकास के लिए शान्ति, सुरक्षा और आर्थिक सहयोग के अलावा कोई चारा नहीं है। नई गर्मजोशी, मीडिया कैमरों की चकाचौंध, पर साथ ही दोस्ती की राह पर सावधान कूटनीतिक कशमकश के दो दिन। पाकिस्तानी राष्ट्रपति परवेज मुर्शरफ के भारत दौरे की समाप्ति पर 18 अप्रैल को प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने सधी हुई बात कही, ‘सफलता की कोई एक शाही डगर नहीं होती, मगर हम आगे बढ़ रहे हैं। क्रिकेट देखने के बहाने भारत आए मुशर्रफ की यात्रा के पहले किसे मालूम था, खासकर 2001 की आगरा शिखर वार्ता के हश्र को देखते हुए, कि कुछ ही दिन पहले श्रीनगर-मुजफ्फराबाद मार्ग पर दोनों तरफ से दिलों को जोड़ने के लिए चली बस दो पड़ोसी झगड़ालू देशों के बीच मुहब्बत की नई राह खोल देगी, भले ही इसे लेकर अब भी आतंकवादियों की वजह से थोड़ी बहुत आशंकाएँ हों।

‘आगे की राह मुश्किल हो सकती है, मनमोहन सिंह ने कहा, लेकिन दोनों देश अपनी जिम्मदारियाँ छोड़ नहीं सकते।’ उन्होंने जनरल मुशर्रफ के साथ जिस संयुक्त वक्तव्य पर दस्तखत किए उसमें भी स्पष्ट कहा गया ‘शान्ति की यह प्रक्रिया अब परिवर्तनीय नहीं है... दोनों नेता वचनबद्ध हैं कि वे आतंकवाद को शान्ति की प्रक्रिया में बाधा पहुँचाने नहीं देंगे। पिछले वर्ष जनवरी में इस्लामाबाद सार्क शिखर सम्मेलन के हाशिए पर, पूर्व प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी के साथ अलग वार्ता में जनरल मुशर्रफ ने वादा किया था कि वह यथासम्भव पाकिस्तानी ज़मीन से भारत-विरोधी आतंकवादी गतिविधियाँ संचालित नहीं होने देंगे। इस बार संयुक्त वक्तव्य में आतंकवाद के सन्दर्भ को उसी क्रम में देखना चाहिए, हालाँकि ताजा प्रसंग श्रीनगर-मुजफ्फराबाद बस को बाधित करने के प्रयासों का है, जिसकी संयुक्त वक्तव्य में भत्सना की गई है।

आतंकवाद के अलावा कश्मीर और अन्यत्र भारत-पाक के बीच शान्ति के मार्ग अन्धी धुन्ध में भी लिपटे हो सकते हैं, फिर भी इस शिखर वार्ता ने इन राहों का धुँधला ही सही, उनका एक खाका तो खींचा है। श्रीनगर-मुजफ्फराबाद मार्ग को ही लीजिए। इस पर न सिर्फ यात्री बसें चलाई जाएँगी, नियन्त्रण-रेखा के आर-पार व्यापार बढ़ाने के लिए ट्रक भी चलाए जाएँगे। 7 अप्रैल को बस चलने पर कश्मीरी जनता के उत्साह, उम्मीदों और जोश का नजारा सामने आ चुका है। आतंकवादी धमकियों और गोलियों की परवाह न करते इस पार से सेब और उस पार से सब्ज़ियाँ, कपड़े, चमड़ा उत्पाद आदि आ-जा सकेंगे। जम्मू-

कश्मीर में नियन्त्रण-रेखा के आर-पार पुंछ और रावलकोट के बीच भी इस तरह के अन्य मार्ग खोलना तय किया गया है। जम्मू-कश्मीर में नियन्त्रण-रेखा वहीं रहेगी, पूरे इलाके का सामरिक और राजनीतिक भूगोल वही रहेगा, लेकिन आर्थिक भूगोल में तब्दीली की एक पहल हो रही है। मनमोहन सिंह और मुशर्रफ ने बार-बार अपने सार्वजनिक वक्तव्यों में 'सॉफ्ट बॉर्डर या 'नरम सीमान्त' का जिक्र किया। बावजूद इसके कि भारत ने कहा है कि सीमाएँ फिर से नहीं खींची जा सकतीं और पाकिस्तान ने कहा है कि नियन्त्रण-रेखा को स्थाई सीमा नहीं माना जा सकता।

साथ ही दोनों ने यह भी कहा है कि सीमाएँ अप्रासंगिक हो जानी चाहिए। इन तीनों बातों को साथ रखकर ही आप कश्मीर समस्या के हल की दिशा समझ सकते हैं। ध्यान देने की बात है कि कश्मीर समस्या के हल की यह दिशा वैसी त्रिपक्षीय नहीं है, जिस पर पाकिस्तान अभी तक ज़ोर देता आया था। इसमें अलगाववादियों को तीसरे पक्ष के रूप में शामिल करने का वह पुराना पाकिस्तानी राग नहीं दिखता। हाँ, मुशर्रफ तो क्या, भारत ने भी कश्मीरी जनता की भावनाओं को ध्यान में रखने की बात ज़रूर की और मुशर्रफ का यह मान लेना बड़ी बात है कि पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी और नेशनल कॉन्फ्रेंस जैसी भारतीय मुख्यधारा की कश्मीरी पार्टियाँ भी 'कश्मीरी जनमत के एक हिस्से का प्रतिनिधित्व करती हैं।' साथ ही मुशर्रफ ने यह भी कहा कि कश्मीर समस्या इतनी 'जटिल है कि पहले भारत और पाकिस्तान के 'शीर्ष नेतृत्व को हल की दिशा में पहल' करनी होगी और तब किसी चरण में कश्मीरियों को शामिल करना पड़ेगा। यह भारत के इस रुख के अनुरूप है कि कश्मीर मसले के हल की 'कोई समय-सीमा नहीं हो सकती, हालाँकि मुशर्रफ की इस बात से इनकार भी नहीं किया जा सकता कि 'कश्मीर कसले को अनंत काल तक नहीं टाला जा सकता।'

पाकिस्तानी रवैये में इस बदलाव को भारत जहाँ अपनी कूटनीतियक उपलब्धि मान रहा है, वहीं कश्मीरी और पाक उग्रवादी इसे मुशर्रफ की दगाबाज़ी कह रहे हैं। शिखरवार्ता से पहले मुशर्रफ के साथ अलगाववादी हुर्रियत नेताओं की अलग-अलग मुलाकात में उग्रवादी धड़े के नेता सैयद शाह जिलानी ने नए पाकिस्तानी रवैये को भारत के आगे घुटने टेकना बताया। मुशर्रफ की यात्रा के समापन पर कुछ कश्मीरी आतंकवादी संगठनों ने भी इसी आशय का बयान जारी किया। इस पर मुशर्रफ ने यही कहा, 'हुर्रियत नेताओं को अक्ल से काम लेना चाहिए। जब भारत उनसे बातचीत को तैयार है तो यह उन्हें तीसरे पक्ष के रूप में शामिल करना नहीं तो और क्या है?'

पहले पाकिस्तान कहता था कि 'कश्मीर मूल मुद्दा' है जिसे हल किए बिना अन्य क्षेत्रों में भारत-पाक सम्बन्ध सुधारने की कोशिश नहीं हो सकती और कहाँ इस संयुक्त वक्तव्य में अन्य 'विश्वास निर्माण के कदमों' की भरमार है। सियाचिन और सर क्रीक विवादों के हल के लिए चर्चा शुरू करने का निर्देश दिया गया है। सिर्फ जम्मू-कश्मीर में नियन्त्रण-रेखा के आर-पार ही आवागमन नहीं खोला जा रहा है, अमृतसर और लाहौर एवं ननकाना साहिब तथा अन्य धार्मिक स्थलों के बीच भी बस सेवा शीघ्र शुरू करने का फैसला किया गया है। राजस्थान और सिन्ध के बीच मुनाबव-खोखरापार रेल भी अलगे वर्ष जनवरी तक शुरू कर दी जाएगी। ईरान और तुर्कमेनिस्तान से पाकिस्तान होकर भारत

तक एक तेल और गैस पाइप लाइन बिछाने पर भी दोनों देशों के बीच आगे वार्ता पर सहमति हो गयी है। तुर्कमेनिस्तान पाइप लाइन तो अपेक्षाकृत आसान है लेकिन ईरानी पाइप लाइन का मामला थोड़ा पेचीदा है क्योंकि वह भी पाकिस्तान से ही गुजरेगी, और अमेरिका इसके खिलाफ है। गोकि मुशर्रफ ने इस पर चुटकी लेते हुए कहा, 'जब-जब अमेरिका छींकता है तो हमें जुकाम क्यों हो जाता है? वैसे मैं बता दूँ कि मैं जानता हूँ, अमेरिका उतनी बार छींकता भी नहीं जितना हम सोचते हैं।' यह इस बात की ओर इशारा था कि 'भारत और पाकिस्तान अमेरिकी छाया से अलग 11 सितंबर, 2001 के बाद बदली हुई विश्व परिस्थिति में अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप भी निर्णय ले सकते हैं।

भारत-पाकिस्तान के राष्ट्रीय हित आर्थिक हैं। दोनों देशों ने आर्थिक सहयोग के लिए संयुक्त आर्थिक आयोग को जल्दी से जल्दी पुनः सक्रिय करने का फैसला किया है। हालाँकि इसी आयोग का गठन 1983 में हुआ था, लेकिन 15 वर्ष पूर्व मृतप्राय हो जाने तक इसकी सिर्फ तीन बैठकें हुई थीं : 1983, 1985 और 1989 में। निजी क्षेत्र में भी व्यापार को बढ़ावा देने के लिए संयुक्त व्यापार परिषद की बैठक शीघ्र बुलाने की बात संयुक्त वक्तव्य में कही गई है। आम जनता के स्तर पर आर्थिक, सांस्कृतिक और अन्य आदान-प्रदान के क्रम में, दोनों देशों की एक-दूसरे के यहाँ क्रमश: मुम्बई और कराची में वाणिज्य दूतावास खोलने का निर्णय महत्वपूर्ण है ।

मुशर्रफ ने दोनों देशों के राष्ट्रीय हितों की नब्ज पकड़ी, जब कहा कि '11 सितम्बर, 2001 को अमेरिका पर आतंकवादी हमले के बाद की विश्व परिस्थिति ने हमें अपनी विदेशी नीति पर पुनर्विचार के लिए मजबूर किया। अब दुनिया में जोर संघर्ष-प्रबन्धन पर नहीं, संघर्ष-समाधान पर है। यह आर्थिक विकास के लिए परस्पर सहयोग का युग है।' पाकिस्तान की आर्थिक सच्चाइयां और हित उसे भारत से सहयोग को प्रेरित कर रहे हैं। पाकिस्तानी आर्थिक मजबूरियों के तार अमेरिका से भी जुड़ते हैं। पूरे 1980 के दशक में पाकिस्तान सोवियत संघ के खिलाफ अफगान गृहयुद्ध में अमेरिका के लिए अग्रिम पंक्ति का सहयोगी था। तब भरपूर अमेरिकी मदद के कारण उसकी आर्थिक विकास दर भारत से कहीं ज़्यादा थी। लेकिन 1990 के दशक में सोवियत संघ के विघटन और अफगानिस्तान में गैर-कम्युनिस्ट इस्लामी शासन के बाद अमेरिकी मदद कम हो गई और पाकिस्तान को अफगान युद्ध तथा भारत के खिलाफ कश्मीर में आतंकवादियों के जरिए अघोषित युद्ध का आर्थिक भार महसूस होने लगा और 1990 के दशक में उसकी विकास दर गिरने लगी, जबकि भारत की बढ़ रही थी। सन् 1998 में पाकिस्तान की विकास दर 4.3 प्रतिशत रह गयी थी, जो परमाणु परीक्षण और कारगिल युद्ध के बाद और गिरती गई। सन् 2001 में उसकी विकास दर 2.6 प्रतिशत ही रह गयी थी।

तभी '11 सितंबर हुआ और पहले अफगानिस्तान फिर इराक पर अमेरिकी हमले में मुशर्रफ ने पूरी तरह अमेरिका का साथ दिया। पुनः भारी अमेरिकी सहायता के कारण एक बार फिर पाकिस्तान की विकास दर बढ़कर सात प्रतिशत तक पहुँची है। इन हालात में अमेरिका के ऊपर पाकिस्तानी अर्थव्यवस्था की निर्भरता स्पष्ट है। लेकिन पश्चिम और मध्य ऐशिया में अमेरिकी सामरिक हितों के लिए पाकिस्तान तभी ज़्यादा उपयोगी हो सकता है, जब वह सामरिक तौर पर भारत के मोर्चे पर ज़्यादा बँधा न हो। भारत से सम्बन्ध सुधारने

के अमेरिकी दबाव को इस परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है।

लेकिन इससे अलग भी, भारत से सम्बन्ध सुधारने के पाकिस्तान में ही निहित आर्थिक और सामरिक दबाव भी हैं। बढ़ी विकास दर के बावजूद पाकिस्तान का भुगतान सन्तुलन घाटा बढ़कर 1.2 अब डॉलर हो गया है और व्यापार घाटा 47.7 प्रतिशत से बढ़कर 2.3 अरब डॉलर हो गया है। विदेशी कर्ज 2003-2004 के मुकाबले 1.63 अरब डॉलर से बढ़कर 36.70 अरब डॉलर हो गया है। यानी भरपूर अमेरिकी और पश्चिमी मदद और बढ़ी विकास दर दिखने के बावजूद पाकिस्तान की माली हालत ठोस नहीं है। सैनिक होड़ के कारण भारत के मुकाबले पाकिस्तान का रक्षा व्यय दुगना है। भारत का रक्षा खर्च उसके सकल घरेलू उत्पाद का करीब 2.5 प्रतिशत है तो पाकिस्तान का लगभग 5 प्रतिशत। लगता है, मुशर्रफ ये तथ्य समझ गए हैं, इसलिए भारत से आर्थिक सहयोग के कदम, आशंकित ही सही, बढ़ा रहे हैं। अपने व्यापार-घाटे को देखते हुए वह भारत से शुल्क बाधाएँ दूर करने की माँग भी कर रहे हैं। भारत को भी पाकिस्तान से आर्थिक सहयोग में फायदा है। वहाँ माल की खपत से भारतीय उघोगों को लाभ होगा। इसलिए प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने कहा, ‘पाकिस्तान की तरक्की से हमें फायदा होगा।’ इस बीच अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी में भारतीय आर्थिक और प्रौघोगिक क्षमताओं की बढ़ती साख ने भी अपना रंग दिखाया, जिसके कारण भारत से सहयोग के इच्छुक चीन ने भी मित्र पाकिस्तान पर दबाव डाला। यह भारतीय कूटनीति की सफलता है कि उसने पाकिस्तान पर दबाव बनाए रखा। पिछले वर्ष 21 जुलाई को विदेश मन्त्री नटवर सिंह पाकिस्तान गए। उसके पहले 21 जून को वह पाकिस्तानी विदेश मन्त्री कसूरी से चीन में मिले। 15 सितम्बर को कसूरी को भारत आमन्त्रित किया गया। सितंबर में ही न्यूयॉर्क में मनमोहन सिंह और मुशर्रफ की मुलाकात हुई। फिर इस वर्ष फरवरी में नटवरसिंह पाकिस्तान गए।

जहाँ वाजपेयी की एनडीए सरकार ने सम्बन्धों को छोड़ा था वहाँ से यूपीए सरकार प्रक्रिया को आगे ले गयी है। आगरा की विफलता के लिए मुशर्रफ की उच्छुंखलता जिम्मेदार थी, तो भाजपा सरकार के एक धड़े के सैन्य और सामरिक स्वार्थों के मोह से पैदा परस्पर अविश्वास भी ज़िम्मेदार था। अच्छा हुआ कि इस बार ऐसी कोई बाधा नहीं आने दी गई।

बगलिहार बाँध पर लगता है, कोई सहमति नहीं हो सकी, इसलिए संयुक्त वक्तव्य में इसका जिक्र नहीं है। लेकिन संपादकों से बातचीत में मनमोहन सिंह ने कहा कि वह पाकिस्तान के लिए पानी का महत्व समझते हैं और भारत पानी नहीं रोकेगा। पर इस शिखर वार्ता की सफलता का श्रेय मुशर्रफ को भी उतना ही जाता है। उन्होंने नाजुक मसलों पर आम सहमति के हित में भारत में विपक्षी नेताओं अटल बिहारी वाजपेयी और लालकृष्ण आडवाणी से भी मुलाकात की। सोनिया गांधी को भी ज़रूरी महत्व दिया और सबसे अच्छी बात यह है कि इस बार मीडिया के जरिए कोई छद्म कूटनीति नहीं हुई।

संयुक्त वक्तव्य : प्रमुख बातें

* शान्ति प्रक्रिया अपरिवर्तनीय है।

* नियन्त्रण-रेखा पर विभाजित परिवारों, व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान हेतु निर्धारित मिलन-बिन्दु तय किए जाएँगे।

* आतंकवाद को शान्ति प्रक्रिया बाधित नहीं करने दी जाएगी। बस सेवा बाधित करने के प्रयास की निन्दा।

* श्रीनगर-मुजफ्फराबाद मार्ग पर सेवा बढ़ाई जाएगी, ट्रक भी चलेंगे। अन्य मार्ग भी खोले जाएँगे।

* मुनाबाव-खोखरापार रेल लाइन 1 जनवरी से शुरू की जाएगी।

* कराची में भारत का और मुम्बई में पाकिस्तान का महावाणिज्य दूतावास खोला जाएगा।

* सर-क्रीक और सियाचिन पर वर्तमान संस्थागत प्रक्रियाओं के तहत अविलम्ब चर्चा शुरू की जाएगी।

* दोनों देशों के तेल और प्राकृतिक गैस मन्त्री इस क्षेत्र में पाइप लाइनों सहित अन्य सहयोग के लिए मई में मिलेंगे।

* संयुक्त आर्थिक आयोग पुनः सक्रिय किया जाएगा। संयुक्त व्यापार परिषद की बैठक शीघ्र बुलाई जाएगी।

* मुशर्रफ ने मनमोहन सिंह को पाकिस्तान आने का नियन्त्रण दिया। सिंह को निमन्त्रण स्वीकार।

कट्टरपन्थियों से मुशर्रफ की दूरी बढ़ी है यह कहना है, जी. पार्थसारथी, पाकिस्तान में रहे अपने उच्चायुक्त का, लेकिन यह भी तय है कि भारत को जमीनी हकीकत के आधार पर ही फैसले करने होंगे। आगरा शिखर वार्ता विफल हो जाने के बाद परवेज मुशर्रफ की ताजा यात्रा से उनका दिल बदला है या नहीं, कोई कह नहीं सकता। लेकिन 11 सितम्बर 2001 के बाद, जब से अमेरिका आतंकवाद के खिलाफ खड़ा हुआ है, तब से अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति बदल गई है। अमेरिकी दबाव के कारण ही मुशर्रफ को पाकिस्तान में कई आतंकवादी गुटों को प्रतिबंधित करना पड़ा। अमेरिका ने यह भी दबाव बनाया है कि मुशर्रफ सैनिक शासन को इस्लामी कट्टरपन्थी ताकतों से दूर रखें। दूसरी तरफ जब से 'जैश-ए-मोहम्मद" मुशर्रफ की हत्या के षड्यन्त्र का दोषी पाया गया है तब से आईएसआई समर्थित इन गुटों के खूनी खेल पर नियन्त्रण लगा है। जब ऐसे आतंकवादी गुट सरकार विरोधी बन जाते हैं तो उन्हें

वह कश्मीर में इस्तेमाल नहीं कर सकते, इसलिए भी कश्मीर में घुसपैठ कम हुई है।

पाकिस्तानी नेताओं की कई मजबूरियाँ रही हैं। जी. पार्थसारथी ने कहा कि मैं देखता हूँ कि जमीनी हालात क्या हैं। जो रुख मुशर्रफ ने 15 महीने से अपनाया है, वह उत्साहवर्धक है। दोनों मुल्कों के आम लोगों में मेल-मिलाप की पहल की गई है। दूसरा यह है कि 1976 में जब 'वीसा एग्रीमेण्ट' साइन किया गया था, तब यह तय हुआ था कि मुनाबाव-खोखरापन रेलमार्ग खोला जाएगा, लेकिन पाकिस्तान के सैनिक शासक उसके खिलाफ थे। वह नहीं चाहते थे कि सिन्ध प्रान्त के मोहाजिर समुदाय के रिश्ते भारतीयों से अच्छे बनें। लेकिन अब मुशर्रफ वहाँ मोहाजिरों की पार्टी एम. क्यू. एम. के समर्थन से शासन कर रहे हैं तो उन्होंने यह रास्ता खोलना स्वीकार कर लिया है। यह अच्छी बात है। अच्छा होता यदि दोनों देश अपनी तरफ से तीर्थ-स्थानों पर जाने की और सुविधाएँ देते।

बस-सेवा शुरू होने से कश्मीर में माहौल बदल गया है। आतंकवादियों के लिए पालिटिकल स्पेस 'कम होता जा रहा है। जन-समर्थन भी कम होने लगा है। लेकिन लगता नहीं कि कश्मीर समस्या का हल अगले पाँच या दस साल में भी होने वाला है क्योंकि उनकी एक पोजीशन है और भारत की एक पोजीशन है। और ये एक-दूसरे से इतनी दूर हैं कि उसे एक करना मुश्किल होगा। समय लगेगा। वैसे प्रधानमन्त्री ने बहुत स्पष्ट शब्दों में पाकिस्तान को समझा दिया कि सीमाएँ नहीं बदल सकतीं। जब व्यापार और पर्यावरण जैसे मुद्दों पर दोनों सरकारें मिल-जुलकर काम करती हैं तो निश्चित ही माहौल बदलता है। संयुक्त व्यापार परिषद बनाने के मसले को भी ज्यादा अहमियत नहीं दी जा सकती, क्योंकि पाकिस्तान व्यापार बढ़ाने का ज़्यादा इच्छुक नहीं है। अगर व्यापार खोल दें तो पाकिस्तान इतने सालों से जो 'प्रोपेगण्डा' करता आया है कि भारत ने कोई तरक्की नहीं की, वह बिल्कुल गलत साबित हो जाएगा।

मुशर्रफ साहब की इस यात्रा के बाद उम्मीद है कि आतंकवाद और कम होगा ही। कश्मीर में इस स्थिति का फायदा उठाकर राजनीतिक माहौल बनाना होगा जिससे आतंकवाद को जनसमर्थन न मिले। अगर आतंकवाद कम हो तो सीमा पर सैनिक ताकत कम करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

'नियन्त्रण-रेखा बन जाएगी सहयोग की रेखा' यह कहते हैं अपने पाकिस्तान समस्याओं के विशेषज्ञ-**सी. उदय भास्कर!**

और यह भी कि पाकिस्तान की सेना समस्या का अंग थी, अब वह संयुक्त समाधान के संग है। प्रधानमन्त्री डॉ. मनमोहन सिंह और राष्ट्रपति जनरल परवेज मुशर्रफ के बीच अनौपचारिक शिखर बैठक के बाद जारी संयुक्त वक्तव्य शिथिल पड़े भारत-पाक सम्बन्धों के लिए और सुरक्षा के मामले में शुभ संकेत हैं। इस्लामाबाद ने पहली बार नवजात शान्ति प्रक्रिया के बारे में कहा है कि इसे पलटा नहीं जा सकता और सबसे महत्वपूर्ण यह है कि मुशर्रफ ने भारत के साथ यह स्वीकार करने में हाथ मिलाया है कि 'आतंकवाद को शान्ति प्रक्रिया में रुकावट डालने की अनुमति नहीं दी जाएगी।'

इसका महत्व इस बात से और बढ़ जाता है कि पिछले 15 वर्षों में व्दिपक्षीय सम्बन्ध उच्च राजनीतिक स्तर पर विश्वास भंग और संवादहीनता के रहे हैं। मई 1998 में परमाणु परीक्षणों के बाद फरवरी 1999 में लाहौर शिखर वर्ता में किए गए प्रयासों के बावजूद इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। कई तरह से 1999 की गर्मियों में कारगिल और जुलाई 2001 की दुर्भाग्यपूर्ण आगरा शिखर बैठक दोनों राष्ट्रों के बीच असुरक्षा का रूपक बन गयी। यदि भारत प्रायोजित आतंकवाद की बात करता रहा तो पाक सेना का इरादा हल्के स्तर की लड़ाई में भारत को फँसाए रखना था। पाकिस्तान निरन्तर कश्मीर मुद्दे को उछालता रहा। विभिन्न अवसरों पर जनरल मुशर्रफ ने अप्रयत्यक्ष चेतावनी दी कि वह इस बात की गारण्टी नहीं दे सकते कि आतंकवादी हमलों को पूरी तरह रोक दिया जाएगा। लेकिन बाद में जनवरी 2004 में उन्होंने ऐसा करने का वादा किया।

सन् 2005 का यह ताजा अप्रैल समझौता महत्वपूर्ण शुरुआत है क्योंकि दोनों राष्ट्र आतंकवाद का संयुक्त मुकाबला करने के लिए राजी हो गए हैं। अवधारणात्मक अन्तर यह आया है कि पाक सेना को अभी तक समस्या का अंग माना जाता था। वह अब संयुक्त समाधान का हिस्सा बन गयी है। हमें सतर्क रहना होगा और देखना होगा कि मुशर्रफ के वायदे का कार्रवाई में अनुवाद कैसे होता है! लेकिन यह परिवर्तन जम्मू-कश्मीर में, सम्पूर्ण सुरक्षा में सुधार की दृष्टि से उल्लेखनीय है। यह मान लिया जाना स्वागत योग्य है कि नियन्त्रण-रेखा धीरे-धीरे नरम सीमा बन जाएगी जिससे सम्पर्क और वाणिज्य में वृद्धि होगी। दूसरे शब्दों में यह, रेखा-नियन्त्रण के बजाय सहयोग की रेखा बन जाएगी। परन्तु भारत और पाकिस्तान दोनों को पर्याप्त सावधानी रखनी होगी कि यातायात और संचार सम्पर्कों कीं मार्फत आतंकवाद घुसपैठ न करे। यदि भारत और पाकिस्तान के बीच अधिक सम्पर्क केन्द्र खोलने की वर्तमान सहमति को तार्किक निष्कर्ष तक पहुँचाया गया तो व्यापार और वाणिज्य को भी लाभ होगा। इन सम्पर्कों को मध्य एशिया और पश्चिम एशिया तक बढ़ाया जाना असम्भावित नहीं है। ये सम्भावनाएँ इस क्षेत्र में भौतिक सुरक्षा की भावना पर टिकी हैं जिसे अपने वादे के अनुरूप निभाना मुशर्रफ सरकार के लिए चुनौती है।

दिल्ली में अपनी यात्रा के दौरान जब मुशर्रफ ने 11 सितम्बर की घटना की भयावहता और अमेरिकी प्रतिक्रिया का जिक्र किया और बताया कि इसने दक्षिण एशियाई क्षेत्र में रणनीतिक पद्धति को बदल दिया है! लेकिन पाक राष्ट्रपति ने जिस बात का संकेत नहीं दिया वह यह कि अमेरिका और चीन ने अपनी दक्षिण एशिया नीति बदल ली है। ये महाशक्तियाँ भारत को किस दृष्टि से देखती हैं, हाल में अमेरिकी विदेश मन्त्री कोंडालीजा राइस और चीनी प्रधानमन्त्री वेन जिआबाओ की भारत यात्राओं से प्रकट होता है। दोनों महाशक्तियाँ भारत से रणनीतिक सम्बन्ध बढ़ाना चाहती हैं जिसे पाकिस्तान ने ध्यानपूर्वक नोट किया है।

राइस की यात्रा के बाद वाशिंगटन ने दक्षिण एशिया में अपनी नई नीति साफ की और पाकिस्तान को एफ-16 लड़ाकू विमानों की आपूर्ति पुनः शुरू करने की पेशकश की। इस सम्बन्ध में दिल्ली की चिन्ता अनुचित नहीं है क्योंकि अतीत में अमेरिका से ऐसी मदद ने पाक सेना को भारत के खिलाफ दुस्साहसिक कार्रवाई करने को प्रेरित किया है। लेकिन

साथ ही राइस ने भारत को और उन्नत विमान देने का प्रस्ताव किया। अमेरिका संकेत दे रहा है कि भारत के साथ उसके सम्बन्ध अलग स्तर पर होंगे। उसने ऐसे संकेत भी दिए कि वह 'भारत को विश्व-शक्ति बनने में मदद देगा।'

विश्व-शक्ति बनने के लिए भारत को पड़ोसियों के साथ स्थायी और आर्थिक दृष्टि से सम्बन्ध रखने होंगे। 18 अप्रैल का संयुक्त वक्तव्य इस दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम है। इस इरादे को कार्रवाई में अनूदित करना चुनौती है।

वैसे पाकिस्तान के एक विशेषज्ञ ने कहा है कि मुशर्रफ को घर में सवालों से ही छुटकारा नहीं है, साथ ही कश्मीर में सामान्य स्थिति लाने की समस्याओं को निपटाने की कोशिश भी जारी है! एक दिवसीय मैच देखने के बहाने जो 'क्रिकेट कूटनीति' शुरू की गयी थी, वह अच्छे-खासे राजनीतिक टेस्ट मैच में तब्दील हो गयी। हालाँकि किसी के हारने-जीतने या किसी नतीजे पर पहुँचने की तो किसी को भी उम्मीद नहीं थी, लेकिन भारत और पाकिस्तान, दोनों को ही यह अहसास हो गया कि उनके सम्बन्धों की सफलता तुरत-फुरत हल तलाशने की कोशिश करने पर नहीं, बलिक एक-दूसरे से बातचीत जारी रखने पर निर्भर है।

परन्तु पाकिस्तान में पूछा जा रहा है, 'क्या सद्भावना व्यक्त करते रहने और फिर मिलने के वायदों से उस एकमात्र मुद्दे को सुलझाने में मदद मिलेगी जिसके कारण दोनों में दूरी आई है? कश्मीर का हल कैसे निकालेंगे?

लाहौर से निकलने वाले 'नवाए वक्त' ग्रुप के अखबार भी इसे लेकर शंकालु हैं। इसके अंग्रेजी दैनिक 'द नेशन' ने अपने सम्पादकीय में लिखा है, 'अगर स्थाई शान्ति कश्मीर के मुद्दे को वहाँ के लोगों की इच्छाओं के अनुरूप हल किए बिना सम्भव नहीं है तो इस दिशा में प्रगति कहाँ हुई है? अब भी समय है कि हमारे नेता अपना दिल टटोलें और सोचें कि कश्मीरियों को कितना अत्याचार और दर्द सहना पड़ा है। उनके उद्देश्य को बेरुखी से छोड़ा नहीं जा सकता, यह उतना ही हमारा अपना उद्देश्य भी है।

इस्लामाबाद में एमएमए जैसी दक्षिणपन्थी राजनीतिक पार्टियों ने, जिनकी उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रान्त और बलूचिस्तान में सरकारें हैं, परवेज मुशर्रफ की क्रिकेट कूटनीति को खारिज कर दिया है। एमएमए के केन्द्रीय नेता सैयद मुनव्वर हसन ने, जो जमात-ए-इस्लामी के हैं, कहा, 'भारत सभी मुद्दों पर फायदे में रहा है जिनमें सियाचिन का मसला, नियन्त्रण-रेखा पर बाड़ लगाना और भारतीय सैनिकों के लिए बेहतर माहौल बनाना शामिल है। विदेश मन्त्रालय को बताना चाहिए कि पहले कश्मीर मुद्दे को सुलझाने के लिए कितने कदम उठाऐ गए थे।'

जब तक कश्मीर का त्रिपक्षीय हल नहीं निकाला जाता, तब तक पाकिस्तान में सवाल उठाए जाते रहेंगे और नेतृत्व को इसके लिए तैयार रहना चाहिए। बहरहाल, अब बुद्धिजीवी यह समझने की कोशिश कर रहे हैं कि कश्मीर पर स्थिति सामान्य बनाने की कोशिश में जो 'समस्याएँ' उभरी हैं, उनके कैसे निपटा जाए।

पिछले साल जम्मू और श्रीनगर की यात्रा के दौरान पाकिस्तान की संवाददाता

मरियाना बब्बर की मुलाकात स्वतन्त्रता सेनानियों या आतंकवादियों, जैसाकि नई दिल्ली उन्हें कहती है, से हुई और उसे हैरानी नहीं हुई कि ये उग्रवादी शान्ति प्रयासों या भारत-पाकिस्तान संवाद की रत्ती-भर परवाह नहीं करते।

इसी संवाददाता ने जब पिछले हफ्ते विदेश मन्त्री खुर्शीद कसूरी से पूछा कि अब पाकिस्तान उन उग्रवादियों के कैसे निपटेगा जिन्हें वह हमेशा से समर्थन देता आया है तो उन्होंने इस सवाल को टाल दिया और कोई जवाब नहीं दिया। पर कराची विश्वविद्यालय में 'शान्ति अध्ययन और संघर्ष समाधान' के महानिदेशक डॉ. यूनिस अहमद का सवाल है, 'केवल भारत और पाकिस्तान के ही नहीं, जम्मू और कश्मीर के भी उन कट्टरपन्थियों और राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित गुटों के भविष्य पर भी प्रश्नचिह्न लगा हुआ है जो 1947 से दुश्मनी और संघर्ष की प्रक्रिया को जीवित रखने की कोशिश करते रहे हैं और जिन्होंने धर्म, देशभक्ति तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर इस क्षेत्र को संघर्ष, गरीबी, पिछड़ेपन, हथियारों की दौड़ और शीतयुद्ध की स्थिति में धकेल दिया है।'

यह पूछने पर कि उग्रवादियों से निपटने की क्या कोई योजना बनाई गई है क्योंकि कश्मीर नीति ने नया मोड़ ले लिया है और ये लोग केवल बोझ बन गए हैं, एक वरिष्ठ पाकिस्तानी सरकारी अधिकारी ने कहा कि आम कश्मीरी को दमन से बचाने और कश्मीर घाटी से अपनी सेना को हटाने के लिए नई दिल्ली को ज्यादा कदम उठाने होंगे। 'आउटलुक साप्ताहिक को पाक सरकार के रवैये का आभास केवल राष्ट्रपति मुशर्रफ की उस टिप्पणी से मिलता है जो उन्होंने सोमवार को पाकिस्तानी मीडिया के सामने की थी। उन्होंने साफ शब्दों में चेतावनी दी थी कि जब तक कश्मीर का मुद्दा हल नहीं होगा, यह विवाद का बिन्दु बना रहेगा जो भविष्य में कभी भी उभर आएगा।

पर पाकिस्तान की नई नीति के कारण आज हुर्रियत कॉन्फ्रेंस की स्थिति दयनीय हो गई है। परवेज मुशर्रफ के सबसे पसंदीदा नेता के रूप में युवा मीर वाइज उमर फारुख उभरते हैं जो भारत और पाकिस्तान दोनों से संवाद बनाए हुए हैं और यह मानने के लिए तैयार हैं कि आगे बढ़ने के लिए तीनों पक्षों को कुछ लेने और कुछ देने के रास्ते पर चलना होगा।

कभी इस्लामाबाद के पसंदीदा पीर सैयद गिलानी अब पाकिस्तान के लिए बोझ बन चुके हैं क्योंकि वह नई मध्यमार्गी नीति के विरोधी हैं। अब यह साफ है कि मीर वाइज उमर फारुख, उमर अब्दुल्ला और महबूबा मुफ्ती कश्मीर के युवा और भावी नेता हैं।

•••

सरहद के परिवारों की खुशी

और भारत-पाक सम्बन्धों का एक पक्ष यह भी है कि रेल पटरी जुड़ने की बेताबी से प्रतीक्षा है। विभाजित परिवारों में जगी अपनों से मिलने की उम्मीद भारत में बाड़मेर के मुनाबाव से पाकिस्तान के खोखरापार तक लिंक रेल के आसार ने सीमा के दोनों ओर नई उम्मीदें जगा दी हैं। दोनों ही तरफ बहुत से ऐसे परिवार हैं जिनके नाते-रिश्तेदार सीमा के दूसरी ओर हैं लेकिन वे गरीबी और वीज़ा की व्यवस्था न होने के कारण अपनों से मिलने की हसरत पूरी नहीं कर पाते हैं। पाकिस्तान ने भी लिंक रेल को 31 दिसम्बर तक शुरू करने की घोषणा की है।

रेल लिंक शुरू होने की बात से बाड़मेर जिले के शिवकर गाँव की दरिया कँवर सोढ़ा को लगता है कि वह बिछड़े माता-पिता से वर्षों बाद गले मिल पाएगी। दरिया कँवर पाकिस्तान के छोल में रहती थीं। राजपूतों के दूसरे गोत्र के परिवारों की पाकिस्तान में अत्यन्त कम संख्या होने के कारण दरिया के माता-पिता ने उसके हाथ बाड़मेर जिले के सवाईसिंह राठौड़ के साथ पीले कर दिए। दरिया वापस कभी छोल नहीं जा पाई। इसी तरह राणी मेघवाल 55 वर्ष की हैं। उसका पीहर पाकिस्तान के इब्राहिमतला गाँव में है। राणी की शादी बाड़मेर के सरहदी गाँव मिठड़ाऊ में वर्ष 1964 में हुई। ससुराल और पीहर के बीच मात्र पाँच किलोमीटर का फासला है। 1965 में मुनाबाव रेल मार्ग बन्द हो जाने के कारण राणी अपनों से नहीं मिल पाई।

विभाजन के बाद भी सरहद के इधर-उधर शादियाँ करने का सिलसिला थमा नहीं। लेकिन लड़की के लिए वापस पीहर जाना सपना बनकर रह जाता है। मुसलमानों के अलावा राजपूत, चारण, मेघवाल, भील, कोली, माहेश्वरी, खत्री समुदाय की रिश्तेदारियाँ सीमा के दोनों ओर हैं। द सिन्धु वेली रिसर्च इंस्टीट्यूट के उपनिदेशक तेजदान चारण के अनुसार गोत्र की परेशानी के कारण सोढ़ा-देथा जैसे समुदायों को लड़कियों की शादी भारत में करनी पड़ती है। इसी तरह की समस्या ढ़ाट माहेश्वरी युवकों के सामने भी हैं। एक स्थानीय दैनिक पत्र के सम्पादक श्रवण कुमार मथराणी स्वयं ढ़ाट माहेश्वरी हैं और पाकिस्तान से यहाँ आकर बसे हैं। उनका कहना है कि रेल सेवा यहाँ के ढ़ाट माहेश्वरी युवाओं के लिए उपहार की तरह होगी। लिंक रेल बन्द हो जाने से गरीब और अनपढ़ समुदाय के लोगों के लिए सीमा पार रिश्तेदारी निभाना मुश्किल हो गया था।

रेल सेवा की घोषणा धार्मिक आस्थाओं से जुड़े सरहद के दोनों ओर के लोगों को लुभा रही है। धार्मिक श्रद्धालु लिंक रेल के लिए मन्नतें माँग रहे हैं, प्रार्थनाएँ कर रहे हैं। सिन्ध प्रान्त के हिन्दू, हरिव्दार और गंगाजी नहाना आना चाहते हैं तो भारत में रह रहे राजपूत, चारण, खत्री, सुनार और दर्जी के लिए हिंगलाज माता कुलदेवी हैं। इस कुलदेवी का स्थान कराची से दो सौ किलोमीटर दूर बलूचिस्तान की तहसीली लिहारी (लसबेला) है। मुसलमान इसे नानी कहते हैं। दोनों समुदाय के लोग इसकी पूजा करते हैं। सिन्धी लोहाणा नरेन्द्र तनसुखानी का कहना है कि झूलेलाल मन्दिर समेत उनके कई धार्मिक स्थल पाकिस्तान में हैं, वे उन स्थलों के दर्शन नहीं कर पाए हैं।

सिन्ध में धार्मिक आस्था के केन्द्र खैरपुर जिले के पीरजो गोठ के हजरत पीर पगारा प्रमुख हैं। बाड़मेर, जैसलमेर, बीकानेर के सिन्धी मुसलमानों में उनके दो लाख से अधिक मुरीद हैं। मुलतान में 'हजरत गोस बाहुलक' तीर्थस्थल है। बाड़मेर-जैसलमेर जिले के सिन्धी मुसलमानों में आरीशर, छछर, समेजा, नोहिड़ी के 70 हजार लोग इसके मुरीद हैं। हैदराबाद के हाला में 'हजरत मुखदाम्म मोहम्मद जमा ताल बिल मोला', खैरपुर जिले के राणीपुर में 'गुलाम रसलू भाह जिलाना पीर' सिन्धी मुसलमानों के साथ-साथ हिन्दुओं के लिए श्रद्धा का केन्द्र हैं। अजमेर की ख्वाज़ा पीर की दरगाह, जालोर ज़िले के साँचौर में पीर की जाल, बाड़मेर की रामसर में बीबी मीठा और सोडियार में मख्दूम शेर जिमनशाह की दरगाह पर पहुँचने की तमन्ना पाकिस्तान के हिन्दू और मुसलमान दोनों रखते हैं। मारवाड़ और सिन्ध इलाका सूफी इलाका माना जाता रहा है। लोक संगीतकार धोधे खाँ, मालाराम,

अनवर खाँ, गफूर खाँ और रुकमा को सुनने के लिए सिन्ध प्रान्त के लोग बेताब हैं। यह लिंक रेल इस ख्वाहिश को पूरा कर सकेगी।

(यह विवरण बाड़मेर के पत्रकार भुवनेश जैन ने लिखा है जिसका ज़रूरी अंश पाठकों की प्रामाणिक जानकारी के लिए ज्यों का त्यों पेश कर दिया गया है।)

हीरामण्डी और पार्टीशन का असली जिम्मेदार

एक बातचीत से बात शुरू करूं। इकबाल हुसैन कौन हैं, यह तो बाद में मालूम पड़ेगा, पर उनकी एक बात यहाँ पहले ही नोट कर दूँ। इकबाल हुसैन के एक दोस्त बोले-देखिए जनाब, सीधी-सी बात है, और मैंने देखी और महसूस की है। जब आदमी गरीब होता है और वह खुद को शोषण का शिकार पाता है, तब वह मज़हब की तरफ भागता है और देखते-देखते कट्टर मज़हबी हो जाता है और जब वह कट्टर मज़हबी आदमी सरकारी ताकतवरों के बीच अपनी मन मुआफिक जगह नहीं बना पाता तो वही फैनेटिक जेहादी हो जाता है!...भाईजान, मैंने तो यहाँ हीरामण्डी में सब तरह के लोग आते देखें हैं...कौन है जो यहाँ नहीं आता।

यह बताने की ज़रूरत तो शायद नहीं है कि हीरामण्डी लाहौर का ही नहीं, बल्कि एशिया का सबसे बड़ा वेश्या-बाज़ार है। जाननेवाली बात यह है कि इस वेश्या बाज़ार में बहुत-से खानदान ऐसे हैं जो पुश्तों से इसी धंधे में हैं। वेश्याओं का यह पुश्तैनी सिलसिला एशिया के अन्य शहरों या भारत-पाक के अन्य सैक्स बाज़ारों में नहीं मिलता। यहीं के एक वेश्या खानदान के बेटे हैं इकबाल हुसैन! उनका खानदान पुश्तों से इसी धंधे में है। उनसे हमारी मुलाकात होनी ही थी क्योंकि सार्क देशों के सारे लेखकों का तो नहीं, पर मेजबानों ने हिन्दुस्तानी लेखकों की एक शाम का खाना 'कुक्कूज नेस्ट' में रखा था। इकबाल हुसैन साहब इसी मशूहर होटल के मालिक हैं। यह होटल हीरामण्डी इलाके में बादशाही मस्जिद के ऐन सामने हैं। रात को रोशनियों से सजी, जगमगाती बादशाही मस्जिद का नजारा भुलाया नहीं जा सकता। वैसे भी पाकिस्तान में कुदरती गैस और बिजली की इफरात है। सिर्फ लाहौर ही नहीं, पाकिस्तान का हर शहर बिजली से जगमग करता रहता है। तो हम 'कुक्कूज़ नेस्ट' होटल में पहुँचे, वहीं मेरी मुलाकात उसके मालिक इकबाल हुसैन के एक नजदीकी जानकार और दो-तीन अन्य पाकिस्तानी दोस्तों से हुई। सबके नाम लिखना मुनासिब नहीं होगा, क्योंकि कुछ ऐसी बातें भी इन्होंने कही, जो लिख देना तो आसान है, पर इत्तफाक से कभी कहीं किसी सिर-फिरे व्दारा पढ़ ली गई तो बबाल खड़ा हो सकता है।

तो हीरामण्डी में बादशाह मस्जिद के सामने खड़ी है यह 'कुक्कूज़ नेस्ट' वाली हवेली। यह पाँच मंज़िली है। हम भारतीय लेखकों के लिए खाने का इंतजाम पाँचवीं मंजिल पर किया गया था। रसोई नीचे है और खाने का सारा सामान उसी तरह आता था जैसे कुएँ से रस्सी के जरिए पानी खींचा जाता है। वहाँ घुसते ही खाने की महक आई,

ज़बरदस्त मुगलई खाना था। छत से बादशाही मस्जिद और हीरामण्डी का काफी इलाका दिखाई देता था। यह पुरानी हवेली है। पतले जीनों से ऊपर जाना होता है। यह जानकर ताज्जुब नहीं होना चाहिए कि हर मंज़िल पर सजावट के लिए हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मौजूद हैं। दूसरी या तीसरी मंज़िल पर हनुमान की संगमरमर की चार फुट की मूर्ति मौजूद है। हनुमान के अलावा लक्ष्मी और अन्नपूर्णा की मूर्तियाँ भी यहाँ मौजूद हैं। और उन पर सूखी या आधी सूखी मालाएँ भी चढ़ी हैं और ताजे फूल भी। यानी वह फूल हमारी वजह से दिखावे के लिए नहीं चढ़ाए गए थे।

इकबाल हुसैन की उम्र लगभग पचास साल है, वे पेशे से होटल वाले नहीं, पेन्टर हैं। उनका खानदान वेश्याओं का है। उनकी माँ पेशे में थीं और अब उनकी बहनें भी पेशे में ही हैं। उनके खानदान की औरतों का यह पुश्तैनी पेशा है। उनकी बड़ी बहन उन्हें आर्ट स्कूल में पढ़ाना चाहती थीं। वे पेशे में हैं, उन्होंने ही इकबाल को मनाया कि वह नेशनल कॉलेज ऑफ आर्ट में दाखिला ले लें। फीस वगैरह का खर्चा बहन ही उठाती थीं। पेन्टर के रूप में इकबाल हुसैन ने हीरामण्डी की वेश्याओं की ज़िन्दगी को लेकर ही सारी पेन्टिंग्स बनाई हैं। पहली बार जब वह अपनी पेन्टिंग्स की नुमाइश करना चाहते थे तो तत्कालीन फौजी तानाशाह जिया-उल-हक ने सरकारी हुक्मनामा जारी करवा दिया था कि नुमाइश के लिए उन जैसे गिरे हुए पेन्टर को कोई गैलरी नहीं दी जाए। पेन्टर इकबाल हुसैन को किराए पर कोई गैलरी नहीं मिली, तो उन्होंने अपनी पेन्टिंग्स की नुमाइश पटरी पर लगाई, जिसे देखने के लिए भीड़ उमड़ पड़ी। उसके बाद पेन्टर के रूप में इकबाल हुसैन ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। पिछले साल वर्ल्ड बैंक इस्लामाबाद ऑफिस ने उनकी पेन्टिंग्स की नुमाइश अपने कार्यालय में लगाई और हीरामण्डी की वेश्याओं की देखभाल के लिए 480 लाख डॉलर का कर्जा मंजूर किया, जोकि वर्ल्ड बैंक ने पाँच साल के लिए पाकिस्तान सरकार को दिया है ताकि हीरामण्डी की पेशेवर तवायफों की ज़िन्दगी में सुधार हो सके। हालाँकि इकबाल हुसैन का बहुत प्रोफेशनल विरोध हुआ पर अब वे उसी नेशनल कॉलेज ऑफ आर्ट में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।

यह 'कुक्कूज नेस्ट' होटल इकबाल साहब खास तौर से उन वेश्याओं की आर्थिक मदद के लिए चलाते हैं जो बूढ़ी हो गई हैं। वैसे उनका यह होटल चलता भी अच्छा है। यों पाकिस्तानी खाने-पीने के बहुत शौकीन हैं। सिर्फ लाहौर के होटल, ढाबे या फूड-स्ट्रीट ही नहीं, इस्लामाबाद और कराची के होटल-रेस्तराँ-ढाबे भी खूब चलते हैं। एक तरह से कहें तो पाकिस्तान का मध्यवर्ग रात का खाना बाहर खाना अपना राष्ट्रीय कर्तव्य समझता है।

मैं खाना खाकर पाँचवीं मंज़िल से काफी पहले उतर आया था। दोस्त लोग कुल्फी और फिरनी का मजा ले रहे थे, मैं दो-तीन पाकिस्तानी दोस्तों की बेलाग बातों का मजा ले रहा था। वे बातें बहुत अहम थीं। सामने बादशाही मस्जिद थी इसलिए चर्चा शाही हरम और हरम की औरतों पर चल पड़ी। एक दोस्त कह रहे थे—जनाब! औरत के लिए यह जो कहा जा रहा है कि वेश्यागीरी उसका सबसे पुराना पेशा है, यह कतई गलत है। सच्चाई यह है कि

यह पेशा तब से चल पड़ा, जब पुराने वक्तों में सल्तनत और हुकूमत के लिए लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। औरतें बेवा हो जाती थीं तो उन्हें जीने के लिए यह पेशा करना पड़ता था। वैसे भी हमेशा से मर्द बिना किसी जिम्मेदारी के सैक्स का मजा लेना चाहता रहा है। असल में वेश्यागीरी का रिवाज बादशाहों और सुल्तानों के हरम के रिवाज से फला-फूला। हरम में चाहे रखैलों को जितना महफूज रखने की बातें की जाएँ, पर असल में शाही हरम चकलाघरों के अलावा कुछ नहीं थे। खुद हीरामण्डी का वह इतिहास मौजूद है जो बताता है कि दूर-दूर तक के सुलतानों-नवाबों-बादशाहों-जमींदारों के हरमों में यहीं से लड़कियाँ जाती थीं और अधेड़ होने पर यहीं लौटा दी जाती थीं। इसी से जिस्म फरोशी की मण्डियों की आबादी बढ़ती रही... जी हाँ और रही औरंगजेब जैसे बादशाह के कारनामे...तो यह जो कहा जाता है कि वह पाक कुरान की कापियाँ बनाकर और टोपियाँ सिलकर अपना निजी खर्चा चलाता था, यह सब निहायत बकवास है। औरंगजेब बेहद एयाश बादशाह था. उसके हरम की लड़कियाँ हर महीने बदली जाती थीं और सैकड़ों लड़कियाँ-औरतें हर महीने शाही हरम से बेदखल करके शहरों की सैक्स मण्डियों में भेज दी जाती थीं। हीरामण्डी जैसे जिस्म के बाजार शाही हरमों की रवायत का ही सिलसिला हैं... और जानते हैं, यह हरामी लफ्ज कहाँ से आया? यह हरम से ही निकला हैं...

इन और ऐसी कई रेडिकल बातों के बाद आखिर में मसला भारत-पाक पार्टीशन पर आ गया तो एक भाई ने बड़े मार्के की बात कही-आप हिन्दुस्तान जाके अपने हिन्दुओं (उनका मतलब हिन्दुत्ववादियों से था) से पूछिएगा कि भारत-पाक पार्टीशन क्यों हुआ? वैसे तो सदियों से हिन्दुस्तान की मशहूर और मालामाल सरजमीं पर करीब-करीब हर मुल्क का कोई न कोई हमलावर आया, उसने हिन्दुस्तान को लूटा। आने वालों में सबसे ज़्यादा तादाद तो तुर्के-पठानों की रही, इसके अलावा बाहरी मुल्कों से यूनानी, ईरानी, तूरानी भी आए। यह बाहरी लोग बहुत बड़ी तादाद में हिन्दुस्तान में बस गए। उसे अपना मुल्क मान लिया। बाबर खुद आगरा में दफन किया गया. और यह तमाम बाहरी लोग यूनानियों को छोड़कर मुसलमान थे, इस्लाम इनका मज़हब था। कहा जाता है कि तलवार के ज़ोर पर इन तमाम बाहरी मुसलमानों ने हिन्दुस्तान में इस्लाम फैलाया। हो सकता है कि मेरे पुरखे भी हिन्दू रहे हों और तलवार के डर से उन्होंने इस्लाम मंजूर किया हो...यह तमाम बाहरी मुसलमान लोग अंग्रेजों और पार्टीशन के वक्त तक अनडिवाइडेड मुल्क में मौजूद थे। अब भाई जान! सोचिए और अपने हिन्दुओं (हिन्दुत्ववादियों-कट्टरपन्थियों) से पूछिए कि क्या बाहर से आए और पीढ़ियों से इसी मुल्क में बस गए किसी बाहरी मुसलमान के खानदान या वारिस ने पार्टीशन-पाकिस्तान माँगा था? उनका तो खून बाहरी था, वो माँगते तो बात दूसरी थी, पर पाकिस्तान की माँग तो कनवर्टेड मुसलमानों ने की थी, जो सदियों से पुश्तैनी तौर पर हिन्दू खून और समाज का हिस्सा रहे थे।.

...दो कौमों का सिद्धान्त देने वाले और उसे पार्टीशन के तौर पर लागू करने वाली दोनों शख्सियतें-अल्लामा इकबाल और मुहम्मद अली जिन्ना, दोनों के खानदान कनवर्टेड मुसलमानों के खानदान थे, जो सिर्फ तीन पीढ़ी पहले मुसलमान बने थे। अल्लामा इकबाल के पुरखे कश्मीर के पण्डित थे और जिन्ना साहब के पुरखे राजस्थान-पंजाब बार्डर के राजपूत थे। तीन पीढ़ी पहले जब इन दोनों के खानदानों ने इस्लाम मंजूर किया था, तब

ज़ोर-ज़बरदस्ती से मुसलमान बनाए जाने का दौर खत्म हो चुका था। मुगल बादशाह हर तरह से बहुत कमज़ोर पड़ चुके थे। अल्लामा इकबाल के खानदान ने जब इस्लाम मंजूर किया, उस वक्त कश्मीर में मुसलमानों का राज नहीं था। तब सिखों के महाराजा रंजीत सिंह के हाथों से निकलकर जम्मू-कश्मीर अंग्रेजों के कब्जे में आ चुका था। जब अल्लामा इकबाल के तीन पीढ़ी पहले के पुरखों ने इस्लाम कबूल किया था, तब जम्मू कश्मीर का राज्य या तो महाराज गुलाब सिंह के अधीन आने वाला था, या आ गया था। मुहम्मद अली जिन्ना के राजपूत घरवालों ने जब इस्लाम मंजूर किया, उस वक्त राजस्थान या पंजाब में किसी मुसलमान सूबेदार या मनसबदार का राज नहीं था, कि धर्म-परिवर्तन के लिए जोरज़बरदस्ती हुई हो।

इसलिए जब वापस भारत जाएं तो जरा अपने हिन्दुओं (हिन्दुत्ववादियों) से पूछिएगा कि पार्टीशन की माँग कनवर्टेड मुसलमानों ने क्यों उठाई? अगर आनी ही थी तो यह माँग बाहरी ओरिजन के मुसलमानों की तरफ से आती!.तो ज़रा हिन्दुओं (हिन्दुत्ववादियों) से कहिए कि ईमानदारी से अपने दिल, दिमाग, और इतिहास को टटोलें, तो इस सच्चाई का उत्तर मिल जाएगा कि पार्टीशन क्यों हुआ और किनकी वजह से हुआ!...आखिर सदियों के दौरान हिन्दुओं में से ही तो बौद्ध, जैनी, मुसलमान और सिख टूटते रहे हैं, वह क्यों टूटे...? सच पूछिए तो पार्टीशन का तिहरा नुकसान कांटिनेंट के मुसलमान ने उठाया है!

अगली बातचीत यों शुरू हुई—यह माना कि जम्मू-कश्मीर का मामला सियासी बिसात में फँस गया है। भारत कहता है कि कश्मीर उसके सेकुलर सिद्धान्त का मुकुट है, कश्मीर घाटी को मुसलमानों की अक्सरियत की बिना पर पाकिस्तान को दे दिया जाए, यह भारत को मंजूर नहीं है, क्योंकि वह तो दो कौमों के सिद्धान्त को मान लेना होगा। भारत के इस तर्क में कोई दम नहीं है। पाकिस्तान ने कभी नहीं कहा कि कश्मीर घाटी से कश्मीरी पण्डित निकले जाएँ, तब घाटी हमारी होगी। वह तो पूरे कश्मीर की माँग करता है, जिसमें जम्मू के हिन्दू भी हैं और लद्दाख के बौद्ध भी शामिल हैं। पाकिस्तान यह कह ही नहीं सकता कि जम्मू-लद्दाख से उसका लेना-देन नहीं है और फिर उस तर्क को भूल जाइए जो पाकिस्तान के पहले प्राइम मिनिस्टर लियाकत अली साहब ने दिया था कि हम पहाड़ों और चट्टानों (यानी जम्मू-कश्मीर) को लेकर क्या करेंगे? हमें असल में हैदराबाद मिलना चाहिए (तब तक हैदराबाद रियासत भारत का हिस्सा नहीं बनी थी) क्योंकि वहाँ के निजाम साहब पाकिस्तान समर्थक थे और उनकी रियासत किस मुल्क का हिस्सा बनेगी, यह उस रियासत का सदर तय करने वाला था!...तो भाईजान, अब तो हालात वह नहीं हैं। जिन्ना साहब ने तो जोधपुर और उदयपुर रियासतों को पाकिस्तान में शामिल होने की ज़बरदस्त पेशकश की थी, वहाँ के महाराजाओं से उन्हें कोई उल्टी प्रतिक्रिया भी नहीं मिली थी...बहरहाल...तो अब तो खैर जम्मू-कश्मीर का पाकिस्तान में शामिल होना नामुमकिन है, पर अगर यह मुमकिन भी होता है तो पाकिस्तान को सामरिक और महत्वपूर्ण ज़रूरतों के लिए कश्मीर घाटी से ज़्यादा लद्दाख की ज़रूरत है।

...और फिर सवाल पानी का भी तो है। कश्मीर-लद्दाख से होकर बहने वाली नदियों पर भारत का कब्जा है। भारत चाहे तो पाकिस्तान को प्यासा मार सकता है...पाकिस्तान के लिए जम्मू-कश्मीर का मसला सिर्फ मुसलमान अक्सरित का नहीं, पानी का भी है, जो घाटी के मुसलमानों से कहीं ज़्यादा बड़ा मसला है। इस सच्चाई को अगर समझें तो कश्मीर का मसला मात्र दो कौमों के सिद्धान्त का मसला नहीं रह जाता, जिससे आप लोग चिढ़ते हैं। पाकिस्तान के कुछ लोग कश्मीर घाटी में मुसलमान अक्सरियत का हवाला देकर यह जो कहते हैं कि दो कौमों के सिद्धान्त के तहत कश्मीर को हासिल करना पाकिस्तान की पहली ज़रूरत है। वे निहायत गलत बात करते हैं। उन्हें मालूम होना चाहिए कि हमारा पाकिस्तान बन तो गया लेकिन हमें जीना भी है। इसके अलावा दो कौमों के सिद्धान्त के आधार पर जम्मू-कश्मीर रियासत का बँटवारा हो ही नहीं सकता क्योंकि कश्मीर में सवाल इस्लाम का उतना नहीं, जितना कश्मीरियत का है! पानी का है!

तीसरा दोस्त बोला, एक बात आप लोग भूल जाते हो...आज जो पाकिस्तान है, यह इलाका सदियों से हमलावरों का रास्ता रहा है। सिकंदर से लेकर बाबर तक सब यहीं से आए या गुजरे, इसलिए यह क्षेत्र हमेशा अशान्त और युद्ध के लिए तैयार रहा है। इस इलाके के लोगों के खून में गोला-बारूद शामिल रहा है। इसलिए पाकिस्तान में जब भी फौजी तानाशाही आई तो लोगों ने, अवाम ने पसन्द तो नहीं किया, पर हम हमेशा यह मानकर चलते रहे हैं कि ठीक है, फौजी आए हैं तो आने दो, इनसे निपट लेंगे...वैसे भाईजान! यहाँ का सिविलियन रूल इतना नाकारा था कि अवाम ने परवेज मुशर्रफ के आगमन पर अगर खुशियाँ नहीं मनाईं तो गहरा सदमा भी नहीं सहा। अब हम फौज के आने-जाने के सदमे को सहने के आदी हो गए हैं...हमारे अवाम, अदीबों-पत्रकारों में फौजी हमलावरों का सामना करने की वह ज़बरदस्त ताकत है जो हमें सदियों के अनुभव ने दी है।

इस्लामाबाद : एक अलग तरह की राजधानी

पाकिस्तान की राजधानी इस्लामाबाद के बारे में बड़ा मजा लेकर पाकिस्तानी कहता है—इस्लामाबाद में न तो इस्लाम है और न आबादी! मगर हम उसे इस्लामाबाद कहते हैं!

इस्लामाबाद वाकई बहुत खामोश शहर है, देश की राजधानी होने की वजह से यहाँ सरकारी अमला तो रहता है पर कोई भीड़-भाड़, शोर-शराबा नहीं है। वैसे इस्लामाबाद फुलवारी की तरह लगता है, फूलों का शहर! बेहद खूबसूरत और आधुनिक। इसे योजनाबद्ध तरीके से बसाया गया है। यूनानी वास्तुविदों ने इसकी बस्तियाँ और बाज़ार तैयार किए हैं, लगभग उसी तरह से जैसे कर्बूज़िए ने अपना चण्डीगढ़ प्लान किया है। इस क्षेत्र को खासतौर से राजधानी बनाने के लिए चुना गया था। कुदरती रूप में भी यह बड़ी खूबसूरत जगह है। पाकिस्तान का यह उत्तर-पश्चिमी इलाका है। एक तरह से यह रावलपिण्डी का उप-नगर है, लेकिन पाकिस्तान की राजधानी होने के कारण इसे मुख्य शहर और रावलपिण्डी को इसका उपनगर मानना पड़ता है। इस्लामाबाद का हवाई अड्डा रावलपिण्डी में ही है, और यह दुनिया की राजधानियों का अकेला ऐसा शहर है जो रेलवे लाइन से नहीं जुड़ा है। इस्लामाबाद में रेल या उसका स्टेशन है ही नहीं। मुल्क के दूसरे शहरों से यह सड़क और हवाई रास्ते से जुड़ा है।

कुदरत ने इसे बहुत खूबसूरती बख़्शी है। इस्लामाबाद की पहाड़ियाँ बहुत खूबसूरत हैं। उतने ही खूबसूरत पठार और वादियाँ भी हैं। जंगल बड़े मनमोहक हैं। यहाँ गुलाब और चमेली के बगीचे तो महकते ही हैं, बरसात में जंगल भी महकते हैं। इस्लामाबाद इलाके में कई नदियाँ और खूबसूरत झीले भी हैं। इसके उत्तर में पेशावर है और सीमा के उस पार, नजदीक ही, अफगानिस्तान की राजधानी काबुल है। यों कहा जाए तो यह फौजी शहर है, पर यहाँ का फौजी वर्दी नहीं पहनता। वह सिविलियन काम करता है और उन्हीं की पोशाक पहनता है, पर यह जानकर ताज्जुब नहीं होना चाहिए कि यहाँ के अकादमिक संस्थानों और शोध की मशहूर संस्थाओं के लगभग सारे प्रमुख फौज से आए हुए या सैनिक सेवा से निवृत्त लोग हैं। वैसे मैंने बहुत से देश देखे हैं, ऐसे देश जिनमें फौजी तानाशाही हावी रही है, पर पाकिस्तान का इस्लामाबाद ऐसा एकमात्र फौजी शहर है, जहाँ उच्च शोध और अकादमिक संस्थानों को वह बड़े काबिल लोग चलाते हैं, जिन्होंने बन्दूक छोड़ दी है और फौजी वर्दी उतार दी है। इस तरह के प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों को यहाँ देखा जा सकता

है। उनसे मिलकर किसी गम्भीर विषय पर घण्टों विचार-विमर्श किया जा सकता है। अगर उनके कमरे के दरवाज़े पर नेम-प्लेट लगी है तब, या बातचीत के लम्बे दौर के बाद यों ही बातों-बातों में पता लग सकता है कि आप जिनसे इतिहास या पुरातत्व पर गम्भीर बातें कर रहे थे, वे सज्जन सेना के कर्नल, ब्रिगेडियर या मेजर जनरल रह चुके हैं। शायद इसीलिए इस्लामाबाद चुस्त-दुरुस्त और अनुशासित राजधानी है।

इस राजधानी का दूसरा अजूबा है यहाँ के बुक स्टोर। शहर में लोग तो हैं नहीं, पर किताबों की बड़ी-बड़ी दुकानों में खासी भीड़ दिखाई देती है और दुनिया की नई से नई किताब यहाँ उपलब्ध है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि यहाँ किताबों की किसी न किसी दुकान में भारतीय क्लैसिक्स के अंग्रेजी अनुवाद मिल ही जाएँगे। रामायण, गीता, महाभारत वगैरह के अनुवाद तो सामने ही नजर आ जाते हैं। तीसरा अजूबा यह है कि पुस्तकों की दुकान की एक श्रृंखला को पाकिस्तान के जाने-माने अंग्रेजी पत्रकार नजम सेठी चलाते हैं जो 'फ्राइडे टाइम्स' के सम्पादक हैं और भारत में बखूबी जाने-पहचाने जाते हैं। वैसे पाकिस्तान की फौजी सरकारें जो भी रही हों, वे भी नजम सेठी साहब को बखूबी पहचानती हैं और ज़रूरत पड़ने पर उन्हें गिरफ्तार करने में कतई नहीं हिचकिचातीं। मौजूदा फौजी राष्ट्रपति परवेज मुशर्रफ की फौजी खुफिया पुलिस नजम सेठी साहब को उनके दफ्तर से उठा ले गई थी और कई दिनों तक मुल्क के पत्रकारों, दूसरे मुल्कों के दोस्तों और उनके घरवालों को भी उनका हाल-हवाल नहीं मिल सका था।

यों इस्लामाबाद में इस्लाम तो नहीं है लेकिन यहाँ बड़ी ही खूबसूरत और आधुनिक वास्तुकला के नमूने के तौर पर फैसल मस्जिद देखने लायक है। इसमें आधुनिकता का इस्लामीकरण और इस्लामी वास्तुकला का आधुनिकीकरण किया गया है। इसी मस्जिद की बगल में अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामिक यूनिवर्सिटी है। यह मस्जिद सऊदी अरब के सुलतान शेख फैसल ने पाकिस्तान को धार्मिक उपहार के रूप में दी है।

सन् 1963 तक इस्लामाबाद बन गया था और सरकारी लोगों ने वहाँ आना और बसना शुरू कर दिया था। इस्लामाबाद से सन् 1966 में विधिवत् सरकार चलने लगी। कराची से सारे दफ्तर वगैरह वहाँ पहुँच गए थे।

और किसी बात के लिए हम जिन्ना साहब की तारीफ करें या न करें, पर मैं व्यक्तिगत रूप से उनकी बेहद तारीफ करूँगा कि उन्होंने उर्दू को पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा और राजभाषा बना दिया। वहाँ के अन्य भाषा वालों ने खास तौर से पंजाबी वालों ने इसका बहुत विरोध किया था, पर सन् 1947-48 में जिन्ना साहब की इस पेशकश को न मानना सम्भव नहीं था। हालाँकि उर्दू को राष्ट्रभाषा-राजभाषा बनाए जाने के कारण ईस्ट-पाकिस्तान (बंग्लादेश) अलग हुआ, पर वैस्ट पाकिस्तान को उर्दू ने एक धागे में बाँध दिया। हिन्दुस्तान में उर्दू को पार्टीशन की भाषा कहा गया, पर इस ऐतिहासिक तथ्य को याद रखना ज़रूरी है कि इधर पिछले पाँच-सात बरसों से भारत-पाक सम्बन्धों में जो सुखद परिवर्तन आया है उसका बहुत ज़्यादा श्रेय उर्दू को है। उर्दू है भी ऐसी सहज और विचित्र भाषा, जो बिना पढ़े सुनने वालों तक अपने अर्थ पहुँचा देती है। उर्दू शेरो-शायरी और खास

तौर से ग़ज़ल की महफिलों के सफल और लोकप्रिय होने का यही रहस्य है।

और यह देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि बोलचाल में पाकिस्तान की उर्दू और भारत की हिन्दी में कोई अन्तर नहीं है। मात्र बोलचाल में ही नहीं, अपने मुहावरों और कहावतों में भी दोनों करीब-करीब एक ही हैं। लेकिन यहाँ मुझे यह दर्ज करने में दिक्कत नहीं है कि पाकिस्तान की उर्दू और भारत की उर्दू में खासा फर्क है। भारतीय उर्दू ने अपना अरबी-फारसीकरण कुछ ज़्यादा ही किया है। लेकिन यह फर्क पाकिस्तानी उर्दू और भारत की हिन्दी में कम से कम है। भारत में भी साझा-संस्कृति वालों ने हिन्दी वालों से हिन्दी को बचाया है, उसी तरह पाकिस्तान के समझदार लोगों ने इस्लाम की चपेट में आ गई उर्दू को उर्दू वालों से बचाया है।

ताज्जुब मुझे एक बात से और हुआ। इस्लामाबाद की किताब की एक दुकान में मुझे पाकिस्तान के एक कश्मीर विशेषज्ञ से मिलवाया गया। कश्मीर को लेकर उनका सोचना सचमुच परिपाटी से अलग था। वे बोले—देखिए जनाब! आज़ाद कश्मीर और कश्मीरी कश्मीर में बहुत फर्क है। आप लोगों के पास जो कश्मीर है वह कल्चर के लिहाज से आज़ाद कश्मीर से बहुत अलग है। वह सारा हिस्सा जिसकी देखभाल आज पाकिस्तान करता है, वहाँ एथनिक (विशुद्ध) कश्मीरी बहुत कम हैं। जुबान भी वहाँ की पंजाबी है, कश्मीरी नहीं। आज़ाद कश्मीर पहले कश्मीर रियासत का हिस्सा नहीं था, इसे तो महाराज हरी सिंह ने अपने जमाने में जम्मू-कश्मीर रियासत का हिस्सा बनाया, अंग्रेजों की मर्जी से। और एकदम उत्तर का जो हिस्सा है, उस गिलगित इलाके के लोग खुद को कश्मीरी मानना अपनी हतक समझते हैं। गिलगित के मुसलमान शिया-इस्माइली हैं, वे कश्मीरियों की तरह सुन्नी नहीं है। बहरहाल, कश्मीर को लेकर हमारा मुल्क पाकिस्तान अजीब-सी खुशफहमी में है। उसे अब समझना और मान लेना चाहिए कि कश्मीर उसकी कौमी पहचान का हिस्सा नहीं बन सकता क्योंकि कानूनी तौर पर वह भारत का हिस्सा बन चुका है। खुद कश्मीरियों ने उसे भारत में मिलने दिया है, नहीं तो उस वक्त कश्मीरियों ने भारत में विलीन होने का, महाराजा हरी सिंह के फैसले का विरोध क्यों नहीं किया? हथियार क्यों नहीं उठाए? उस वक्त तो कश्मीरी लोग हालात का भरपूर फायदा उठा सकते थे, क्योंकि हथियारबन्द कबाइली कश्मीर-वैली में पहुँच चुके थे, उनकी मदद से कश्मीरी आज़ाद भी हो सकते थे और चाहते तो पाकिस्तान में मिल सकते थे। शेख अब्दुल्ला इतने बड़े और एकछत्र कश्मीरी लीडर नहीं थे कि उनकी मुखालफत करना मुश्किल होता। एक तरह से जिन्ना साहब ने जो यूनाइटेड हिन्दुस्तान के साथ किया था, वही शेख अब्दुल्ला ने जिन्ना साहब और पाकिस्तान के साथ किया।

बहरहाल, अब पाकिस्तान को समझना चाहिए कि कश्मीर को भारत के कानूनी और फौजी जबड़ों से निकाल सकना मुमकिन नहीं है। दुनिया के सियासी हालात का नक्शा भी बहुत बदल गया है, इसलिए पाकिस्तान को कश्मीर के मुद्दे को कम से कम खर्च पर ज़िन्दा रखना चाहिए और उस वक्त का इन्तज़ार करना चाहिए जब दुनिया का राजनीतिक सन्तुलन फिर बदले। हमारे काजी हुसैन अहमद (जमाते इस्लामी के प्रमुख) भी यही सोचते

हैं। वे मेरी राय से सहमत हैं। असल में हम अमेरिका के पाले में चले तो गए हैं, वैसे हमारी इकॉनमी को अमेरिका ने बहुत सँभाला है, अफगानिस्तान से सोवियत फौजों को बेदखल करने के लिए अमेरिका ने जो आर्थिक और हथियारों की मदद दी थी, उससे हमारी इकॉनामी बहुत सुधर गई थी और हम कश्मीर में मुजाहिदों की हथियारबन्द कार्रवाई भी चला सकते थे, पर अफगानिस्तान से सोवियत फौजों के पलायन के बाद अब अमेरिकी मदद करीब-करीब बन्द हो गई है, इसलिए हमारी आर्थिक हालत अब उतनी तंदुरुस्त नहीं है जितनी कि होनी चाहिए। हमने अमेरिका के लिए अफगानिस्तान से सोवियत संघ को खदेड़ने के लिए मुल्ला उमर और तालिबानों का जो संगठन तैयार किया, उसको मैनटेन करने का खर्चा तो उतना ही है, या पहले से बढ़ा ही है, लेकिन अमेरिकी मदद में कटौती की वजह से अब तालिबानों की हथियारबन्द जमात को सँभालना भारी पड़ रहा है। मुल्ला उमर की जो अफगानी सरकार हमने स्थापित की थी, उसका खर्चा अफगानिस्तान में लगाए गए टैक्स वगैरह और आमदनी के परम्परागत दीगर जरियों से अब नहीं निकल पा रहा है...इसलिए ज़रूरी है कि हम अमेरिका के साथ अपने रिश्तों को फिर तय करें, नहीं तो पाकिस्तान की इकॉनमी की कमर बहुत जल्दी टूट जाएगी और हमें अमेरिका की 'नौकरी' करनी पड़ेगी। इसीलिए जमाते-इस्लामी के सदर साहब का पाकिस्तान के प्रेसीडेन्ट परवेज मुशर्रफ साहब से यह कहना मुनासिब है कि अमेरिका की गुलामी करने से बेहतर होगा इण्डिया से सुलह करने का सौदा करना!

मैं समझता हूँ कि इतनी खुली बात वही कर सकता है जिसके मन में मैल नहीं है। नहीं मालूम कि जमाते-इस्लामी के सदर ने यह बात प्रेसीडेन्ट मुशर्रफ से कही या नहीं कही, पर भारत-पाक अदावत को अब पाकिस्तानी बहुत गलत समझ रहे हैं। भारत में तो इस अदावत को गलत समझने वालों की बहुतायत है। पाकिस्तानी दिमाग़ के इस रुझान की ज़मीन तैयार करने की भूमिका वहाँ के पत्रकारों ने बड़े धीरज और साहस से निभाई है। इसके लिए उन्हें गलत भी समझा गया और तब तकलीफदेह बातें भी सुननी पड़ीं और फिर ऐसा भी नहीं था कि हिन्दुस्तान में पाकिस्तान को समझने और उसकी खुशियाँ चाहने वाले लोग न हों। पार्टीशन के शिकार हुए बहुत से ऐसे लोग आज भी भारत में बहुसंख्या में हैं जो पाकिस्तान की खुशहाली के लिए आज भी दुआ करते हैं, और दोनों देशों की जनता के बीच सोच और एकता का यह पुल उस हिन्दी और उर्दू ने बनाया है, जो इन दोनों भाषाओं को अमीर खुसरो से विरासत में मिली थी।

इस्लामाबाद में बड़ी अलग-सी फौजी कल्चर है, जिसने वर्दी उतार कर एक अनुशासित और खुली हुई नागरिक कल्चर को जन्म दिया है, ऐसी कल्चर मैंने किसी और देश में नहीं पाई। यहाँ तक कि भारत में भी नहीं। इसका एक जबरदस्त प्रसंग यहाँ याद आता है, उस प्रसंग पर आने से पहले मैं पाकिस्तानी लेखकों और शायरों की एक खासियत यहाँ दर्ज कर देना चाहता हूँ। सच पूछिए तो रोजमर्रा की ज़िन्दगी में भी मैंने पाकिस्तानी अदीबों को फौजियों के सामने कभी भी घबराते या रिरियाते नहीं देखा। वाघा बार्डर पर भी जब हमारा सामान कस्टम के फौजी जवान चैक कर रहे थे तो किश्वर नाहीद साहिबा को मैंने

एक सीनियर अफसर से कहते सुना था—क्या तलाश रहे हैं? दारू! उसकी बोतलें इन मेहमानों के सामान में नहीं मिलेंगी। हमने इन्हें पहले ही बता दिया है कि दारू लाने की ज़रूरत नहीं है। हम इन्हें दारू से नहला देंगे। जब किश्वर जी ने यह कहा तो पास खड़े इन्तज़ार हुसैन साहब धीरे-धीरे मुस्करा रहे थे। बहरहाल…

और अब सुनिए उस खुली हुई कल्चर का प्रसंग। सम्मेलन में शामिल सारे अदीबों को पंजाब के फौजी गर्वनर ख़ालिद महमूद ने डिनर दिया था। फौजी गर्वनर साहब नागरिक पोशाक में हम लेखकों को रिसीव कर रहे थे। मेरे आगे अहमद फ़राज साहब थे। ज़रा उस शायर का रुतबा देखिए। नागरिक पोशाक में हम लोगों को रिसीव करते फौजी गवर्नर ने अहमद फ़राज को देखा और एक कदम आगे बढ़कर उन्हें रिसीव करते हुए कहा—जनाब फ़राज अहमद साहब! आज तो हाथ मिला लीजिए...आपको हमारी वर्दी से नाराजगी है...आज हम वर्दी पहन कर नहीं आए हैं।

और उस अजीम शायर अहमद फ़राज ने हाथ मिलाते और मुस्कराते हुए कहा—जनाब, क्या पता आप वर्दी कब पहन लें!....

और इस्लामाबाद में एक अलग तरह का बड़ा ज़बरदस्त म्यूजियम है—लोक संस्कृति का संग्रहालय। उसका नाम ही ‘लोक विरसा’ है। यहाँ बलोचिस्तान, नार्थ-वैस्ट फ्रंटियर, सिन्ध के साथ-साथ गिलगित, स्पिति और चित्राल की संस्कृति के बेजोड़ नमूने मौजूद हैं। इन प्रदेशों की लोक-संस्कृति इस्लाम से कतई प्रभावित नहीं है। लोक विरसा में काली लकड़ी की उत्कीर्ण बड़ी शानदार मूर्तियाँ मौजूद हैं। सूफी साहित्य का भी यह केन्द्र है। लोक-साहित्य के अलावा सूफी साहित्य का प्रकाशन भी यहाँ से होता है। और वैसे तो पाकिस्तान के इतिहासकारों ने सिन्धु-सभ्यता, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, तक्षशिला आदि को अपनी विरासत से खारिज कर रखा है लेकिन यहाँ मोहनजोदड़ो-हड़प्पा-तक्षशिला आदि इतिहास के रूप में मौजूद नहीं है, पर उन्हें लोक-विरसा माना गया है।

वैसे बहुत पहले, सन् 1981 में मैंने तक्षशिला के संग्रहालय-म्यूजियम से भारत के दूरदर्शन के लिए रिपोर्टिंग भी की थी और तीस-पैंतीस मिनट की डॉक्यूमेंट्री भी तैयार की थी, जो तत्कालीन प्रेसीडेन्ट जिया-उल-हक साहब की फौजी सरकार की इजाज़त के बिना, म्यूजियम के आम कर्मचारियों की मदद से बनाई जा सकी थी। तो उस वक्त भी अवाम के स्तर पर हालात खराब नहीं थे। माहौल तो राजनेताओं और उस दौर के फौजी अमले ने खराब कर रखा था।

और एक बहुत ही मजेदार कमेंट। एक हँसमुख पाकिस्तानी कहता है कि पाकिस्तान में इस्लामाबाद तो है लेकिन इस्लामाबाद में पाकिस्तान नहीं है। पाकिस्तान यदि देखना है तो इस्लामाबाद से चौदह किलोमीटर दूर रावलपिण्डी में देख सकते हैं!

खुली खिड़की : पाकिस्तान

खुली खिड़की : पाकिस्तान

आँधियाँ तो सुना उधर भी आईं

मैं आपकी और अपनी स्मृति की परम्परा की बात करना चाहता हूँ और यह बात भी कि स्मृति की परम्परा, धर्म की परम्परा से ज्यादा प्रगाढ़ है। साहित्य यह बताता है कि वह सीधे-सीधे तो नहीं, फिर भी धर्म के अच्छे पहलुओं को मंजूर करते हुए भी, धर्म के नाम पर वह अपनी स्मृति की परम्परा से अलग नहीं हो सका। इसी स्मृति की परम्परा का एक बहुत महत्वपूर्ण अंग है भूगोल। व्यक्ति का धर्म, जाति, वर्ण या वंश कोई भी हो, वह अपना जन्मस्थान यानी अपने नितान्त निजी भूगोल को कभी नहीं भूल पाता। दुनिया का कोई ऐसा लेखक नहीं है जो अपनी जन्मभूमि की स्मृति को भुला सका हो। इस स्मृति का धर्म के साथ कोई नाता नहीं होता। बड़े-से-बड़े लेखक-कवि का बचपन देख जाइए, उसमें धर्म नहीं मिलेगा। यदि मिलेगा तो अपना घर, छप्पर, पेड़-पौधों, नदी-पोखरो, टूटी या कच्ची धूल भरी सड़क या पगडण्डी, खेत-खलिहान या अपने मोहल्ले की बस्ती, दोस्त और साथी, पशु-पक्षी, मौसम और उनकी खट्टी-मीठी यादें।

राही मासूम रजा के क्लासिक उपन्यास 'आधा गाँव' का ही एक अंश उठा लीजिए। फौज में गया उसका एक पात्र जब युद्ध के मोर्चे से वापस लौटता है तो मजहबी बहस के दौरान वह बड़ी तल्खी, पर शतप्रतिशत सच्चाई और ईमानदारी से लगभग इन शब्दों में कहता है : "मोर्चे पर जब मौत सामने होती है तो मुझे (आदतन) अल्लाह तो याद आता है, पर सब से ज़्यादा मुझे अपना गंगौली गाँव और घर याद आता है...मुझे काबा याद नहीं आता, वह अल्लाह का घर है, ज़रूरत पड़ने पर वह अल्लाह को याद आता होगा…मुझे तो सिर्फ गंगौली का अपना घर याद आता है।"

सोचिए, आखिर इन्सान की यह कौन-सी बड़ी सच्चाई है जो धर्म-मज़हब की सच्चाई से भी बहुत ऊँची उठ जाती है! और वह तब, जब मौत जैसी खूँखार सच्चाई उसके सामने खड़ी होती है। आखिर मौत के आगे तो कुछ नहीं है, यदि धर्म या मज़हब ही अन्तिम सत्य होता तो 'आधा गाँव' के उस मुसलमान पात्र को 'काबा'

याद आना ही चाहिए था या किसी हिन्दू पात्र को बद्री-केदारनाथ, रामजी, या कृष्ण जी के मन्दिर याद आने ही चाहिए, पर ऐसा निश्चय ही नहीं होता है। अब मृतकों की गवाही तो एकत्रित नहीं की जा सकती, पर राम-जन्मभूमि अभियान में जो कार-सेवक अयोध्या गए थे, माना जा सकता है कि वे धर्म से अधिकतम जुड़े हुए लोग थे। उन पर गोली चली थी।

उन्नीस राम-सेवक वहीं अयोध्या में अस्थाई मन्दिर के सामने मारे गए थे। वे तो अब नहीं है, पर उन्हीं के साथ गोलियों की आकस्मिक मौत से जो बच गए थे, उन्हें वहीं मौजूद 'रामलला' की याद नहीं आई थी। नहीं तो मौत से बचने के बाद सबसे पहले वे 'रामलला' के आगे माथा नवाते या ईश्वर को याद करते हुए वे किसी तीर्थ-स्थान या ईश्वर के मन्दिर में जाते। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। वे मौत से बचकर सीधे अपने घरों की ओर भागे थे।

जेहादी मुस्लिम आतंकवादियों को ही ले लीजिए। वे तो धर्म के लिए धर्म के नाम पर ही बेगुनाहों को या 'गुनहगारों' को मारते हैं, उनके संगठनों के नाम भी विशुद्ध रूप से धार्मिक हैं, जैसे जैश-ए-मोहम्मद अर्थात् पैगम्बर मुहम्मद की सेना, या कि लश्करे-तैयबा अर्थात् मजहब की पवित्र फौज। अब इन से ज़्यादा मज़हब में आस्था रखने वाला कौन होगा? लेकिन जब यह मज़हबी जेहादी मारे जाते हैं तो इनकी जेबों से मक्का-मदीने की तस्वीरें नहीं निकलती, इनकी जेबों से अपने घरों, शादियों और घरवालों की तस्वीरें निकलती हैं।

मैंने आज तक दुनिया में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं देखा जो धर्म, वर्ण, नस्ल या जाति पूछ कर दोस्ती करता हो या जिसकी दोस्ती का दायरा सिर्फ अपने धर्मवालों तक सीमित हो! इसे आप क्या कहेंगे? यह सच्चाई बताती है कि धर्म या मज़हब से पहले अपने आस-पास और जन्म की जगह वाली कुदरत से व्यक्ति का रिश्ता होता है। यह रिश्ता धर्म तय नहीं करता। उस दौर का अनुभव और बाद में उसकी स्मृतियाँ तय करती हैं। धर्म जब धीरे-धीरे मनुष्य के मन में जगह बनाता है, तब भी वह इन स्मृतियों को खण्डित नहीं करता। धर्म और स्मृति में कोई स्पर्धा और वैमनस्य भी नहीं होता। धर्म का अपना विधि-विधान होता है। स्मृति का कोई विधि-विधान या कर्म-काण्ड नहीं होता, इसीलिए संस्कृति के निर्माण में धर्म से अधिक स्मृति का अंशदान और योगदान होता है। संस्कृति लिखी नहीं जाती, वह स्वनिर्मित होती रहती है। संस्कृति का लिखित रूप ही साहित्य होता है। साहित्य अपने इन्सानी अनुभव और संवेदना से सांस्कृतिक सोच और मूल्यों को उदात्त और बृहत्तर बनाता रहता है। संस्कृति मनुष्य की सामाजिक और सार्वजनिक चेतना है। उम्र के एक पड़ाव पर पहुँच कर धर्म नितान्त व्यक्तिगत हो जाता है। एक ही धर्म के दो व्यक्तियों का धर्म एक-दूसरे के काम नहीं आता। प्रत्येक व्यक्ति तब भी अपनी-अपनी स्मृतियों के बल पर सिर्फ अपनी मुक्ति की कामना करता है।

इसीलिए मैं स्मृति की परम्परा, जोकि सांस्कृतिक परम्परा की आधारभूमि है, बेहद महत्वपूर्ण मानता हूँ। भारतीय सभ्यता को स्मृति की इसी परम्परा ने जीवित रखा है, धर्म और धर्म के स्वरूप, सिद्धान्त और उनकी व्याख्याएँ आती-जाती, स्थापित और तिरोहित होती रहीं, इनमें से जो कुछ शुभ था, उसके अंशों को हमारी यह सभ्यता और संस्कृति अंगीकार करती रही, पर सभ्यता और संस्कृति का अधिकांश स्मृति और उसकी मानवीय चिन्ताओं के यथार्थ और उसके सपनों से ही निर्मित होता रहा। कोई भी संस्कृति हो, पाश्चात्य या पौर्वात्य, उसकी धमनियों में सांस्कृतिक स्मृति का रक्त ही प्रवाहित है।

एक उदाहरण दूँ! मेरे ही नहीं, बहुतों के मित्र थे, एक तेग इलाहाबादी साहब। उनका असली नाम था मुस्तफा ज़ैदी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में वे मुझसे एक साल आगे थे। भारत के दो अल्पकालीन प्रधानमन्त्रियों वी.पी.सिंह और चन्द्रशेखर के वे सहपाठी थे। तेग

इलाहाबादी उर्फ मुस्तफा ज़ैदी की दुर्दम्य प्रतिभा और नेतृत्व शक्ति के सामने यह दोनों काँपा करते थे। लेकिन न मालूम कि तेग इलाहाबादी उर्फ मुस्तफा ज़ैदी की ज़िन्दगी में क्या हादसा हुआ कि विभाजन के दस साल बाद वे भारत को गालियाँ देते हुए पाकिस्तान चले गए। वहाँ उन्हें हाथों-हाथ लिया गया और वे पाकिस्तानी सिविल सर्विस के आला अफसर, कराची के कमिश्नर बनकर घनघोर भारत विरोधी बन गए।

लेकिन कराची का यह कमिश्नर मुस्तफा ज़ैदी एक शायर भी था, जिसका नाम था तेग इलाहाबादी! और इस पढ़े-लिखे शायर ने भारत विरोध और पाकिस्तान के दो कौमी सिद्धान्त को मंजूर करते हुए अपनी मज़हबी-आत्मा के कहने पर पाकिस्तान जाना ज़रूरी समझा था। मेरे दोस्त इन मुस्तफा ज़ैदी ने पाकिस्तान की सिविल सर्विस में क्या कारनामे किए, वे तो मुझे मालूम नहीं लेकिन इन्हीं मुस्तफा ज़ैदी, उर्फ तेग इलाहाबादी ने जो शायरी की वह मेरे सामने है। अपने मज़हबी मन से पाकिस्तानी बन जाने के बाद भी कराची में बैठ कर अपने नाम से इलाहाबादी होने की स्मृति न मिटा सकने के साथ ही तेग इलाहाबादी लिखते रहे हैं :

कोई उस देश का मिल जाए तो इतना पूछें
आजकल अपने मसीहा-नफसाँ कैसे हैं
आधियाँ तो सुना उधर भी आईं
कोंपले केसी हैं शीशों के मकां कसे हैं।

सीधे-सीधे यह तेग इलाहाबादी उर्फ मुस्तफा ज़ैदी, कमिश्नर कराची पाकिस्तान की एक जख्मी अतीत-स्मृति है और इसके बाद यही शायर लिखता है :

सात समन्दर पार से आई गोरी पिया के देस
रूप विदेशी लेकिन जीवन पूरब का सन्देस
लम्बी-लम्बी पलकों जिन में तलवारों की काट
नीली-नीली आँखें जैसे जमुना जी का घाट!

देखना यह ज़रूरी है कि मुस्तफा ज़ैदी, कमिश्नर कराची पाकिस्तान उर्फ तेग इलाहाबादी को पाकिस्तान की सिन्ध, रावी या चनाब नदियों के घाट क्यों याद नहीं आते? उन्हें जमुना नदी का नहीं, 'जमुना जी' का घाट क्यों याद आता है? यही स्मृति है जो धर्म की स्मृतियों से बहुत ऊपर उठकर संस्कृति बन जाती है।

स्मृति की इस सांस्कृतिक विरासत और इन्सानी परम्परा को यदि आप पहचान सकेंगे तो आप हिन्दुत्व की सरकारी और गैर-सरकारी हिंसा से ग्रस्त अपने देश, सभ्यता और संस्कृति पर एहसान करेंगे!

('खुली खिड़की : पाकिस्तान' के अन्तर्गत यहाँ दिये गये चारों आलेखों के कुछ अंश 'भारत और पाकिस्तान : स्मृति और संस्कृति की परम्परा' में देना जरूरी था, क्योंकि वह आलेख खासतौर से पाकिस्तान के पाठकों-श्रोताओं के लिए लिखा गया था। 'खुली खिड़की' वाले आलेख भारतीय पाठकों को संबोधित थे!)

खुली खिड़की : पाकिस्तान

अजब दिलकुशा बाँसुरी की सदा है

शुरु में ही कह दूँ कि इस आलेख का पूरा श्रेय स्वामी वाहिद काज़मी साहब को है। मैंने पिछले एक आलेख 'आँधियाँ तो सुना उधर भी आईं' में अपने एक शायर दोस्त तेग इलाहाबादी का जिक्र किया था, जो विभाजन के कई वर्षों बाद मज़हबी कारणों से पाकिस्तान पलायन कर गए थे। उनका नाम मुस्तफा ज़ैदी था। वे पाकिस्तान सिविल सर्विस में थे। कराची के कमिश्नर हो गए थे। इन तेग इलाहाबादी को भी इलाहाबाद की 'जमुना जी' का घाट याद आता था, सिन्ध, रावी, चनाब नदियों के घाट नहीं। स्मृति की इसी प्रगाढ़ परम्परा को मैंने रेखांकित किया था। उन लाइनों को दोहरा दूँ—'लम्बी-लम्बी पलकें जिनमें तलवारों की काट, नीली-नीली आँखें जैसे जमुना जी का घाट।"

मैं फिर दोहराना चाहूँगा कि किसी भी बड़ी और स्थिर संस्कृति का निर्माण मूलतः स्मृति से ही होता है, वह धर्म की परम्परा से अधिक प्रगाढ़ होती है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति को इसी परम्परा ने जीवित रखा है। इसलिए यह सहज ही कहा जा सकता है कि वैदिक जीवन पद्धति में जो पुरोहितवादी अपकर्ष आया था वह उस धर्म पद्धति और धर्म की धारणा को ही अन्तिम रूप से नष्ट कर सकता था, पर इस देश के भूगोल और दर्शन की स्मृतियों ने ही बौद्ध और जैनकालीन वेद-विरोधी दार्शनिक धारणाओं को जन्म दिया था जो कालान्तर में इस देश की सांस्कृतिक स्मृतियाँ बनकर आज भी भारतीय संस्कृति के रूप में हमारे पास सुरक्षित हैं। भाषाएँ इन स्मृतियों के संरक्षण और संग्रहण का मुख्य माध्यम रहीं हैं। भाषाएँ ही जातीय, भौगोलिक और ऐतिहासिक अनुभवों का भण्डारण संस्मरणों के रूप में करती रहती हैं। भाषा संग्रहालयों में संस्मरणों की यह सम्पदा भरी हुई है। यह भाषाई सम्पदा बताती रहती है कि कोई भी संस्कृति हो, उसकी धमनियों में धर्म का गंदला रक्त नहीं, स्मृति का निरन्तर शुद्ध होता रक्त ही प्रवाहित होता रहता है।

इसी सत्य का साक्ष्य स्वामी वाहिद काज़मी साहब ने पेश करके एक अहम गुत्थी सुलझा दी है। स्मृति की इसी परम्परा को तलाशते हुए स्वामी वाहिद काज़मी साहब ने पाकिस्तान के एक बहुत बड़े (हिन्दुस्तानी स्मृतियों के) शायर जनाब अब्दुल अज़ीज़ 'ख़ालिद' को तलाश कर पहली बार यह बताया है कि पाकिस्तान में इस 'हिन्दी शायर ने कितनी शोहरत और पाठकीय मकबूलियत हासिल की है। यह मज़हबी इलाकों में हुआ है, क्योंकि इस शायर ने पाकिस्तान में पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद के दिव्य व्यक्तित्व को हिन्दी में पेश किया है और अपनी बात हिन्दुस्तानी मुहावरों और कृष्ण के प्रतीकों को लेकर स्थापित

की है। यह कोई मामूली बात नहीं है क्योंकि जनाब ‘ख़ालिद साहब ने हिन्दी को लेकर पाकिस्तान में सांस्कृतिक सेतु बनाए हैं। उन्हें मज़हबी इलाकों में भी बहुत बड़े शायर के रूप में मंजूर किया जाता है। ‘जनाब अब्दुल अज़ीज़ ‘ख़ालिद साहब का परिचय यह है कि वे भारत के जिला जालन्धर, सतलज नदी के किनारे एक तहसील नकोदर में 14 जनवरी, 1923 को जन्मे थे। विभाजन के कारण वे पाकिस्तान चले गए थे पर हजरत मुहम्मद की जीवनी लिखते हुए वे अपनी सांस्कृतिक और भाषाई स्मृतियों से अलग नहीं हो सके। तो पहले सुनिए और पढ़िए उनकी हजरत मुहम्मद की यह स्तुति :

तू दीपक, मैं काजल, तू दरपन मैं सीसा,
मैं कालिख, तू परभात की लालिमा है।
कहीं खेलें आपस में हम गोप लीला,
यही कामना है, यही कल्पना है।
जो गोकुल में गोविन्द से फाग खेले,
वो निरलाज नारी नहीं, अप्सरा है।
है ‘हक़े सिरुह’ शान्ति ओम् तत्सत्,
अजब दिलकुशा बाँसुरी की सदा है।

यहाँ ‘हके सिरूह’ ही प्रयोग में आ सकता था, जिसका अर्थ है सत्य की दैवी घोषणा। यह इस्लामी दर्शन का एक अर्थबद्ध शब्द है। और सत्य की यह दैवी घोषणा उन्हें बाँसुरी की दिल खींच लेने वाली आवाज़ की तरह सुनाई पड़ती है और सत्य के घोष में उनके लिए शान्ति ओम् तत्सत् की अनुगूँज समाई हुई है। इस्लाम का उदय तो सातवीं सदी में हुआ था, लेकिन सोचिए कि ढाई हज़ार साल पहले की यह सांस्कृतिक स्मृतियाँ पाकिस्तानी शायर जनाब अब्दुल अज़ीज़ ‘ख़ालिद’ के दिलो-दिमाग़ और पूरे वजूद में क्यों खनकती हैं? और वह भी पाक पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद साहब को लेकर! स्वामी वाहिद काज़मी साहब लिखते हैं कि ‘ख़ालिद साहब का यह बृहद ग्रन्थ ‘फ़ारक़लीन’ (अरबी भाषा में हजरत मुहम्मद साहब का एक विशेषण) सौभाग्य से मेरे अध्ययन में रहा है। सन् 1974 ई. में लाहौर से प्रकाशित यह तृतीय संस्करण डिमाई साइज के 308 पृष्ठों में है। इसमें एक ही बहर तथा काफिया में 1500 से अधिक अशआर हैं। उन्हीं में हिन्दी काव्य (भाषा) के अंश इस प्रकार शामिल हैं, मानी उर्दू अशआर की तरंगों पर डोलते हुए इनका हृदय हिन्दी कविता की तरंगों में बहने लगा है...इसे पढ़ते हुए ख़ालिद साहब के मन-मन्दिर में विराजमान नेह-लगन की तेज़-मन्द आँच में आहिस्ता-आहिस्ता सुलगती, वह प्रीत-प्यासी-पुजारन आँखों के सामने साकार होने लगती है जो कभी सूर तथा रसखान आदि कृष्णकाव्य धारा के सुकवियों और कभी प्रभु-प्रेममार्गी सूफी सन्तों की वाणी से मुखरित अपनी अनकही मार्मिक विरह-व्यथा सुनाती रही है, तो कभी अपने साँवले-सलोने (कन्हैया) पर हजार जान से कुर्बान होती रही है।’...यह ख़ालिद साहब की नितान्त मौलिक और विशिष्ट दृष्टि है कि हज़रत मुहम्मद का स्तुतिगान करते हुए इनके ज्ञान एवं अनुभव-चक्षु प्राय: लीलाधर, नटनागर, गोपीवल्लभ कृष्ण की मनमोहिनी मधुर मुस्कान देख लेते हैं और उनके अधरों से छिड़ी वंशी की वह जादुई तान आज भी सुन लेते हैं…इनकी व्याकुल आत्मा की यही तमन्ना भी है कि ‘कभी खेलें आपस में हम गोप-लीला’। मतलब यह कि ‘इस’ में

भी और ‘उस’ में भी ख़ालिद साहब की दृष्टि वही देखती है जो अनादिकाल से एकमात्र है और अनन्तकाल तक एकमात्र ही रहेगा।’

तो यह है दक्षिण एशिया के इस्लाम की वह सांस्कृतिक स्मृति और उसका आध्यात्मिक दर्शन जो वैदिक ऋचाओं, कुरान की आयतों और उपनिषदों के कथनों के साथ-साथ सूफी-सन्तों और सिद्ध साधुओं के अलौकिक अनुभवों की स्मृतियों और प्रतीकों से भरा हुआ है। यह धर्म नहीं, यह संस्कृति है। इससे ख़ालिद साहब का इस्लाम धर्म खण्डित नहीं होता, यहाँ तक कि हज़रत मुहम्मद की जीवन-कथा का

एक पौराणिक प्रसंग है जहाँ इस्लाम का यह पाक पैग़म्बर ख़ुदा से मिलता है, वहाँ जन्नत का नजारा यह है :

कपोल किश्वरे-कश्मीर, नैन नैनीताल,
कुसुम की खेत किनारे खिले हैं नील पद्म।

और यह, वह शायर ख़ालिद हिन्दी में लिख रहा है जो जालन्धर छोड़कर पाकिस्तान गया है, जो लाहौर के इनकम टैक्स विभाग का डिप्टी कमिश्नर रहा है, जिसकी रचनाओं के 27 वृहद संकलन प्रकाशित हुए हैं। पाकिस्तान के हर अखबार और पत्रिका ने उन्हें छापा है और अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं ने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर विशेषांक निकाले हैं। यह पाकिस्तान में हुआ और हो रहा है। इससे साबित होता है कि पाकिस्तान एक राजनीतिक-धार्मिक राष्ट्र तो हो सकता है पर सांस्कृतिक रूप से उसे अपनी स्मृतियों का सहारा बार-बार लेना पड़ेगा। संस्कृति का बँटवारा नहीं हो सकेगा, फिर वह चाहे भारत हो या पाकिस्तान।

खुली खिड़की : पाकिस्तान

राम, कृष्ण, राधा, लक्ष्मी, दुर्गा : सभी तो यहाँ हैं!

वैसे तो भारत-पाकिस्तान के राजनयिक युद्ध और अविश्वास का दौर चल रहा है, लेकिन सांस्कृतिक परम्पराएँ और समय अपना इतिहास खुद निर्मित करता रहता है। सांस्कृतिक सम्मिलन राजनीतिक ज़रूरतों और सरकारी आपसदारी का मोहताज नहीं होता। संस्कृति की एकता और आपसदारी को पाकिस्तान की कविता कितनी शिद्दत और ईमानदारी से पेश करती है, इसकी जानकारी भारतीय पाठकों और नागरिकों को नहीं है।

पाकिस्तान में जो कुछ लिखा गया और लिखा जा रहा है, वह इस सच्चाई को सच साबित करता है कि धर्म तो एक मिनट में बदला जा सकता है, लेकिन संस्कृति को बदलने में सदियाँ लगती हैं। आज पाकिस्तान अपने राजनीतिक अलगाव के लिए चाहे इस्लाम को कौमी सिद्धान्त की आधारशिला बनाता रहे, पर पाकिस्तान की कविता और सहित्य यह बताता है कि वह धर्म को सीधे-सीधे तो नहीं, फिर भी धर्म के अच्छे पहलुओं को मंजूर करते हुए भी, धर्म के नाम पर अपनी स्मृति की परम्परा से अलग नहीं हो सकता। स्मृति की परम्परा हमेशा धर्म से ऊपर रही है। पाकिस्तान के मशहूर विद्वान्, आलोचक और शायर वज़ीर आग़ा और भारत के हिन्दी के मशहूर उपन्यासकार और शायर राही मासूम रज़ा ने लगभग एक ही बात कही है। राही मासूम रज़ा पूछते हैं कि ‘जब हम भारतीय संस्कृति, सभ्यता या परम्पराओं की बात करते हैं तो भारत की सीमा कहाँ निश्चित करते हैं? क्या सिर्फ वहीं तक जाकर भारत की सीमा रुक जाती है जहाँ 15 अगस्त, 1947 को अंग्रेजों ने एक लकीर खींच दी थी? मैं इसे नहीं मानता। अब अगर राजनीतिक बँटवारा परम्परा का बँटवारा नहीं है तो भारत की परम्पराएँ उसकी भी हैं जिसे हम पाकिस्तान कहते हैं!...क्योंकि अगर संस्कृति, सभ्यता और परम्पराओं की दुनिया भी सन् 1947 में बँट गई थी तो हमारे भारत के राष्ट्रगीत ‘जन-गण-मन अधिनायक’ में पंजाब, सिन्ध, गुजरात, मराठा, द्राविड़, उत्कल, बंगा के साथ-साथ सिन्ध का ज़िक्र क्यों हैं? आधा पंजाब और आधा बंगाल तो है पर सिन्ध कहाँ है? भारत में तो अभी तक कोई सिन्ध प्रदेश नहीं है। इसी राष्ट्रगीत की गवाही पर मैं पाकिस्तान को केवल एक राजनीतिक इकाई मानता हूँ, सांस्कृतिक इकाई नहीं। इसका कारण यह है कि परम्परा धर्म नहीं है कि कलमा पढ़ लेने या शुद्धि करा लेने से परम्परा बदल जाए। हवाओं को कलमा नहीं पढ़ावाया जा सकता और

मेह की शुद्धि नहीं की जा सकती।'

अब राही मासूम रज़ा की इसी सोच के आधार पर पाकिस्तान की शायरी को देखा, समझा और इसी कसौटी पर कसा जाए तो सच्चाई खरे सोने की तरह चमकती दिखाई देती है। वे कहते हैं कि 14 अगस्त, 1947 (पाकिस्तान की आज़ादी की) आधी रात में जो लोग बिना पूछे पाकिस्तानी बना दिए गए, उन्ही में पाकिस्तान के सबसे बड़े उर्दू शायर फैज़ अहमद फैज़ का नाम भी आता है। फैज़ की कविता में अभी तक हिन्दुस्तान एक है क्योंकि उनकी शायरी का संगीत बिल्कुल नहीं बदला। फैज़ अगर विभाजन के बाद भारत के नागरिक होते, तब भी वह वही और वैसी ही शायरी करते जो वह पाकिस्तान में कर रहे हैं या करते रहे हैं।

राही ने यह बड़े मार्के की बात कही है, यह याद करते हुए कि हैदराबाद की उर्दू कांफ्रेंस के लिए फैज़ ने चार लाइनों का एक सन्देश भेजा था, उसकी दो लाइनें यह हैं :

बुए कातिब है कि ज़िन्दां है कि मयखाना है
इन दिनों सूरते बरबादिए यारां क्या है?

और राही खुद ही इन दो लाइनों के अर्थ खोलते हैं और कहते हैं कि इस शेर से ऐसा नहीं मालूम होता कि किसी एक मुल्क का आदमी किसी दूसरे मुल्क के आदमियों की खैरियत पूछ रहा हो बल्कि ऐसा मालूम देता है कि एक परदेसी अपने घरवालों के बारे में पूछताछ कर रहा हो।

जैसे आजकल भारत की कोई गम्भीर से गम्भीर पत्रिका, अखबारों के साप्ताहिक परिशिष्ट बिना ग़ज़लों के नहीं निकलते वैसे ही पाकिस्तान का कोई रिसाला या अखबार का परिशिष्ट बिना दोहों और गीतों के नहीं निकलता। कोई साहित्यिक पत्रिका दोहों और गीतों को नजरअन्दाज़ नहीं कर पाती।

पाकिस्तान के मशहूर शायर निगार सहबाई का एक कविता संकलन आया, जिसका नाम है 'जीवन-दर्पण'। क्या कोई सोच सकता है कि पाकिस्तान में हिन्दी यानी भारत के यह शब्द सुने और मंजूर किए जा सकते हैं? खैर, इस बहस को छोड़िए, आप एक-दूसरे मशहूर शायर सहबा अख़्तर के इन दोहों को देखिए :

अन्तरयामी के दर्शन को अन्तरज्ञानी जाए।
सहबा की बनवास से कोई राम नहीं बन पाए।।

बाँसुरी हाथ में पकड़े मुँह पे छिड़के नीला रंग।
सबही किशन बनें तो राधा नाचे किसके संग।।

उनके लिए हर भोर रुपहली साँझ सुनहरी आए।
जिनके घर में लक्ष्मी नाचे दुर्गा दीप जलाए।।

पल में ओस समान वो आँखें पल में अगिनीबार।
उन पे प्यासी आँखें डाल के क्या लेगा नादान।।

इक इक अंग उजाला नाचे किरने चूमें गात।
हम सूरजवंशी होते तो करते तुझसे बात।।

सुन्दर नारी मुँह अँधियारे जब भी नहाने आए।
एक उजाला धीरे-धीरे किरन-किरन बढ़ जाए।।

सहबा जी क्यों मन की गुफा में बैठा है चित साध।
आओ चन्दन रात के धन को बाँट लें आधो-आध।।

कब वो स्वयंवर दिन आएगा होगा अन्त वियोग।
सपनों की संजोगिता तुझसे कब होगा संजोग।।

तो, यह है पाकिस्तानी शायर सहबा अख़्तर की उर्दू शायरी, उसकी भाषा और उसके प्रतीक और स्मृतियों के अक्स! यही है उनका सूफ़ियाना कलाम जो 'संजोगिता से संजोग' के लिए बेकरार है। इसमें चली आती भारतीय परम्परा ही नहीं, पौराणिक काल के सारे पात्र मौजूद हैं जो भारतीय स्मृति में समा चुके हैं, अब यहाँ राम, कृष्ण, राधा, कृष्ण की बाँसुरी, लक्ष्मी और दुर्गा, अर्जुन के अग्निबाण को क्या कहेंगे? सुबह नहाने जाती औरतों और गुफाओं में बैठकर साधना करने वाले अन्तरज्ञानी तपस्वियों को सहबा अख़्तर की स्मृतियों से कैसे अलग कर सकेंगे।

खुली खिड़की : पाकिस्तान

सांस्कृतिक विरासत का बँटवारा नहीं हो सकता

और देखिए यह खुली खिड़कियाँ क्या करती हैं? दो राष्ट्रों के सिद्धान्त ने चाहे पाकिस्तान की राजनीतिक सोच को जितना भी साम्प्रदायिक और संकीर्ण बनाया हो, पर स्मृति की परम्परा से साहित्य कभी छुटकारा नहीं पा सकता। स्मृति की यह परम्परा धर्म या मज़हब की परम्परा से बहुत पुरानी, ताकतवर और ज़्यादा कुदरती है।

धर्म को मनुष्य ने ईजाद किया है और अपने आदिम दौर में प्रकृति की कुदरती कठिनाइयों, घातों-अपघातों, मुश्किलों और मृत्यु को वशीभूत करने के लिए उस दौर के जीव ने अपने जीवन के हित में ईश्वर की परिकल्पना करके पहला क्रान्तिकारी विचार विकसित किया होगा। मनुष्य की इस क्रान्तिकारी परिकल्पना से उद्‌भूत इस ईश्वर ने सदियों तक बहुत साथ दिया। शुरू में तो मनुष्य के कबीले की पहली सामाजिक और कल्पनाशीलता की दुनिया का एकमात्र एक ही ईश्वर रहा होगा, पर जैसे-जैसे वर्चस्व और सुविधाओं के सवाल उठे होंगे तो मनुष्य का प्रथम कबीला विभाजित हुआ होगा और तभी से प्रत्येक कबीले को अपने अलग ईश्वर की ज़रूरत पड़ी होगी। ईश्वर के नाम पर अपने-अपने ईश्वर को स्थापति करने के लिए मनुष्य की कल्पना शक्ति ने तब ज़बरदस्त काम किया होगा और तब ईश्वर अपने कबीले के परमेश्वर के रूप में स्थापित हुआ होगा। बहुईश्वरवाद मनुष्य के अलग-अलग कबीलों के विकास का अगला चरण रहा होगा, जिसे इस्लाम के एकेश्वरवाद और सातवीं आठवीं सदी के आदि शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का दार्शनिक और आध्यात्मिक आधार दिया। लेकिन साहित्य में इस दार्शनिकता और आध्यात्मिकता को अपनी सच्चाइयों और यथार्थ से सामना करना पड़ता है। हालाँकि धर्म सामाजिक आचरण को भी प्रभावित करता है परन्तु वह मूलतः मनुष्य की मृत्यु के समय ही काम आता है। प्रत्येक मनुष्य अपने धर्म के साहचर्य में ही मरना चाहता है, परन्तु मौत के समय एक ही धर्म के प्रत्येक व्यक्ति का धर्म नितान्त निजी हो जाता है। यहाँ तक कि एक ही धर्म के पति-पत्नी भी मृत्यु के समय अपनी मोक्ष की आकांक्षाओं को लेकर एक नहीं होते। उनकी व्यक्तिगत स्मृतियाँ अलग-अलग होती हैं। वे अलग-अलग स्मृतियों को लेकर मृत्यु का वरण करते हैं और तब धर्म व्यक्ति की मृत्यु का नितान्त निजी वाहक होता है। धर्म नितान्त निजी हो जाता है, इसीलिए जीवित मनुष्य-सम्प्रदाय के लिए मौजूद होते हुए भी

धर्म उसके दैनंदिन आचरण और जीवन-मूल्यों को तय नहीं करता।

जीवन और मृत्यु के इस अन्तराल को संस्कृति भरती है। वही लगातार मनुष्य के काम आती है। संस्कृति मनुष्य समुदाय की सार्वजनिक सम्पदा है और संस्कृति को धर्म नहीं, स्मृति ही निर्मित करती है। इसीलिए वे लोग जो धर्म के कौमी सिद्धान्त के तहत विभाजन के बाद पाकिस्तान चले गए, या जिन्होंने बंग्लादेश को अलग किया, उनके यहाँ रोटी का अकाल पड़ा हो या न पड़ा हो, पर उनके यहाँ सांस्कृतिक अकाल इस शिद्दत से पड़ा कि वे अपनी सांस्कृतिक जड़ों की तरफ लौटने लगे। परम्परा, संस्कृति, सभ्यता की बात करनी हो तो राजनीतिक विभाजन के बावजूद यह सभ्यता, इसका इतिहास और संस्कृति अभी तक बँटी नहीं है।

तभी तो पाकिस्तान का एक अजीम शायर अपना उपनाम (तखल्लुस) 'माधो' रखता है और कहता है :

जब बारिश बरसी लोग बहुत ही रोए,
हम मन्दिर में जा सोए।

पाकिस्तान में तो सारे मन्दिर खत्म गए हैं। रावलपिण्डी के दशहरा मैदान के मन्दिरों पर बेघरबार गरीबों का रिहायशी कब्जा है जो गलत भी नहीं है, क्योंकि ईश्वर ने ज़रूरत से ज़्यादा जगह घेर रखी है और वहाँ बकरियाँ बँधी हुई हैं। वहाँ बहुत-सी नई मस्जिदें बन चुकी हैं, लेकिन इसके बावजूद पाकिस्तानी शायर माधो को मन्दिर में जाकर सोने से सांस्कृतिक सुकून मिलता है।

और पाकिस्तान के एक और शायर असद मुहम्मद खाँ लिखते हैं :

मैं विन्ध्याचल की आत्मा,
मेरे माथे चन्दन चाँदनी
मेरी माँग साँझ की धूप
मैं चित्रकार का अन्तिम चित्र
कला का उत्तम रुप!

विन्ध्याचल तो पाकिस्तान के भूगोल में नहीं है। वहाँ पेशावर, रावलपिण्डी, मरी या बलूचिस्तान की पहाड़ियाँ या पहाड़ हो सकते थे, तो उसे विन्ध्याचल क्यों याद आता है? यह धर्म नहीं, मनुष्य की कुदरती स्मृति है।

और वहीं पाकिस्तान में निगार सहबाई लिखते हैं :

रास्ता न रोको नटखट श्याम,
सौ सौ बार करूँ परनाम,
आँचल न खेंचो गोकुल के वासी,
हो जाऊँगी मैं बदनाम!

तो सोचिए यह क्या है? यह कौन-सी इन्सानी और सांस्कृतिक स्मृति की सच्चाई है जो दो कौमों के धार्मिक बँटवारे के बाद भी बँट नहीं पाई है। पाकिस्तान में गोकुल, वृन्दावन के नटखट श्याम! और बदनामी से डरती-झिझकती गोपी! इस लौकिक भावना को व्यक्त करने के लिए पाकिस्तानी शायर निगार सहबाई को प्यार के उतने ही गहरे प्रतीक लैला-मजनूँ याद नहीं आते, उन्हें लौकिकता से अलौकिकता की ऊँचाईयों में उठा ले जाने वाले

नटखट श्याम और गोपियाँ याद आती हैं।

और पाकिस्तान का मशहूर शायर जफर इक़बाल धार्मिक स्मृतियों से अलग होकर सांस्कृतिक स्मृतियों को सहेजते हुए लिखता है :

रजनी ने फैलाया फन,
सहमा साँझ का नीलापन,
खोलो सोलो मन के द्वार
चन्दनवन से आई पवन!

तो, यह चन्दन के वन और इनकी पवन तो भारत के मैसूर प्रदेश में है और वहीं यह पवन बहती है। पाकिस्तान में तो चन्दन होता नहीं, वहाँ कोई इलाका भी ऐसा नहीं, जहाँ सन्दल (चन्दन) के पेड़ होते हों।

तो, पाकिस्तान से आती शायरी की इस संदली आवाज़ को आप क्या कहेंगे? तमाम राजनीतिक दाँव-पेंचों और दुश्मनी के बावजूद हमारा सांस्कृतिक विरसा एक है।

कुछ सांस्कृतिक सवाल
(भारत का एक दिमागी सफरनामा)

साम्प्रदायिकता का इतिहास और विकास

इधर एक किताब आई है, इसके लेखक असगर अली इंजीनियर हैं। इस पुस्तक को 'इतिहास बोध प्रकाशन' ने छापा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि बहुत खूबसूरती और सादगी से छपी इस ढाई सौ पन्नों की किताब की कीमत सिर्फ पचहत्तर रुपये है। यह इस भ्रांत धारणा को भी तोड़ती है कि हिन्दी में सस्ती और अच्छी किताबें नहीं छप सकतीं। इस बहुत ज़रूरी किताब का नाम है—'भारत में साम्प्रदायिकता : इतिहास और अनुभव'।

सचमुच असगर अली इंजीनियर ने इस किताब में साम्प्रदायिकता के कारणों का बहुत तथ्यपरक और गहरा विवेचन किया है। आज के बिगड़े हुए माहौल में साम्प्रदायिकता की जड़ों की तलाश ज़रूरी हो गई है क्योंकि अगर इस देश को सीमा पार से निर्यातित और अन्तर्राष्ट्रीय जेहादी आतंकवादी से लड़ना है तो हमें देश के अन्दर फैलते और पनपते धर्मान्ध विचारों और साम्प्रदायिकता के कारणों से भी लड़ना पड़ेगा। गोधरा और गुजरात, यह दो परिघटनाएँ हमें आगाह कर रही हैं कि साम्प्रदायिकता और उससे उपजे दंगों को बड़ी गहराई से यदि जाँचा और सँभाला न गया तो इसके बड़े दूरगामी नतीजे निकल सकते हैं। गोधरा और गुजरात में मुसलमानों और हिन्दुत्ववादियों दोनों के ही साम्प्रदायिक तत्व शामिल रहे हैं। अब देश अच्छी तरह समझ गया है कि साम्प्रदायिकता चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, दोनों के चेहरे एक हैं और वे एक-दूसरे के पूरक भी हैं। हिन्दू साम्प्रदायिकता और मुस्लिम साम्प्रदायिकता, इन दोनों को ही भारतीय लोकतान्त्रिक पद्धति में मौजूद आज़ादियों का गलत फायदा मिल रहा है। एक को शरीयत के नाम पर तो दूसरे को हिन्दुत्व के नाम पर। हिन्दू साम्प्रदायिकता इसलिए ज़्यादा खतरनाक है क्योंकि वह हिन्दू बहुसंख्यक की आड़ का फायदा उठाकर काम करती है, जबकि दोनों सम्प्रदायों की साम्प्रदायिकता के बारे में आँकड़ों और तथ्यों से यह बात प्रमाणित होती है कि 'हिन्दू साम्प्रदायिक हिन्दुओं की बड़ी आबादी के बीच अल्पसंख्यक हैं और 'मुस्लिम-साम्प्रदायिक' अपनी आबादी के बीच अल्पसंख्या में हैं।

दोनों सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक तत्वों ने इस देश के अमन-चैन को-बंधक बना रखा है, जबकि हिन्दुओं की बड़ी आबादी और मुसलमानों की बड़ी आबादी इन साम्प्रदायिक तत्वों के साथ नहीं है। ऐसा क्यों हुआ और क्यों होता चला गया, इसकी पड़ताल अब निहायत ज़रूरी है। यही काम असगर अली इन्जीनियर ने किया है। वे मानते हैं कि साम्प्रदायिकता

एक जटिल परिघटना है। इसे सिर्फ समसामयिक, सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भों में ही नहीं समझा जा सकता। इसे समूचे तौर पर समझने के लिए समग्र दृष्टिकोण अपनाने की ज़रूरत है। टुकड़ों-टुकड़ों में इसे नहीं समझा जा सकता। यह समझ अधूरी है कि राजे-महाराजे, सुलतान और शहंशाह धर्मों के आधार पर बँटे हुए थे, अपने राजनीतिक स्वार्थों और सामन्ती वर्चस्व और प्रभुत्व के कारण नहीं। इस देश के हिन्दू को बताया गया कि हिन्दुओं का पतनकाल मुसलमानों के आगमन और आक्रमणों से शुरू हुआ। नहीं तो भारतीय इतिहास में 'हिन्दू काल' उनका स्वर्णकाल था। उसी तरह मुस्लिम कट्टरपन्थी यह मानते हैं मुस्लिम भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग है, नहीं तो उनके आने से पहले तक भारत अंधकार में डूबा हुआ था। मुसलमानों ने आकर उन्हें सभ्य और तहजीबयाफ्ता बनाया।

इस तरह का एकतरफा और साम्प्रदायिक नज़रिया इतिहास को तोड़ता-मरोड़ता ही नहीं बल्कि धार्मिक भावनाओं को भड़काता भी है। सत्ता के स्वार्थ के लिए भी साम्प्रदायिक राजनेता भी साम्प्रदायिक आधार पर इसे शक्तिशाली हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं। इसलिए ज़रूरी है कि इतिहास को भी दूसरे समाज विज्ञानों की तरह ही विज्ञान माना जाए और इसे समझने के लिए एक सटीक पद्धति विकसित की जाए। इसे धार्मिक साम्प्रदायिक या संकीर्ण मतों से ऊपर उठकर समग्रता और पूरे सन्दर्भों में समझा जाए।

असगर अली इंजीनियर का यह मजबूत मत है कि धर्म कभी साम्प्रदायिक हो ही नहीं सकता। और यह भी कि साम्प्रदायिकता मध्यकालीन नहीं बल्कि यह आधुनिक परिघटना है और यह भी कि यह अंग्रेजी काल की उत्पत्ति है। इसके अनेक कारण हैं। अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई और हिन्दू-मुसलमानों में तनाव पैदा किया। असल में अंग्रेज 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान हिन्दू-मुस्लिम एकता से भयाक्रान्त थे, जब हिन्दुओं-मुसलमानों ने बहादुरशाह जफर को अपनी क्रान्ति का नेता घोषित किया था। अंग्रेजों ने तब भारत के इतिहास के लेखन के लिए इलियट और डाउसन की सेवाएँ लीं और उन्होंने फारसी से मन-माफिक अंशों का अनुवाद करके ऐसी सामग्री मुहैय्या करवाई जो यह सिद्ध करती थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अनवरत और शाश्वत लड़ाई है।

साथ ही यह भी कि अंग्रेजों के जमाने में राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में जो संरचनागत बदलाव हो रहा था, उसमें भी साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति के कारण मौजूद हैं। अंग्रेजों के आने से पहले सामन्ती अर्थ-व्यवस्था प्रतिस्पर्धात्मक नहीं थी क्योंकि उत्पादन मुख्यतः स्थानीय उपयोग के लिए होता था। औपनिवेशिक अंग्रेजी राजनीति और अर्थव्यवस्था बड़े बाज़ार और मुनाफे के कारण प्रतिस्पर्धात्मक थी। आंशिक रूप से इस प्रतिस्पर्धात्मक प्रणाली ने साम्प्रदायिकता की परिघटना को परिपुष्ट बनाया। अंग्रेजों ने जब गुलाम जनता को कुछ मामूली अधिकार देने शुरू किए, जो कि उनकी मेहरबानियों पर निर्भर थे, तब अधिकारों के बँटवारे को लेकर हिन्दुओं-मुसलमानों के बीच द्वन्द्ध पैदा हुआ। मुस्लिम अभिजात-सामन्त वर्ग ने अधिकारों में अपना हिस्सा सुनिश्चित करना चाहा, जिसका विरोध हिन्दू अभिजात वर्ग ने किया और होते-होते यह मसला इतना विकराल रूप धारण करता गया कि अन्ततः भारत विभाजन तक पहुँच गया। इस तरह दोनों सम्प्रदायों के अभिजात वर्गों में जो राजनीतिक और 'जी-हुजूरी प्रतिस्पर्धा उभरी, उसने साम्प्रदायिक भावनाओं को और ज़्यादा मजबूत बनाया।

अंग्रेजों ने प्रशासन के शीर्ष स्तरों पर अंग्रेजी को लागू किया। जिलास्तर पर फारसी लिपि में लिखी उर्दू और नागरी लिपि में लिखी हिन्दी को मंजूर किया। यहीं से हिन्दू-मुसलमानों को भाषाई स्तर पर जब अलगाया तो इस पॉलिसी ने भी दोनों समुदायों की अलग पहचान को रेखांकित करके उनकी साम्प्रदायिकता को पुख़्ता किया।

सर सैयद अहमद जैसे कुलीन नेता और शिक्षाविद् के अवदान को स्वीकार करते हुए भी असगर अली इन्जीनियर ने उन्हें भी नहीं बख्शा है। वे स्वतन्त्रता संग्राम में शामिल नहीं थे। इस तरह के कुलीन और खास तौर से मुसलमान अभिजातीय सामन्त वर्ग की मानसिकता का खुलासा करते हुए वे तर्कपूर्ण तथ्यों के आधार पर बताते हैं कि उन्नीसवीं सदी से ही शिक्षित मध्यवर्ग (हिन्दू-मुसलमान दोनों) के हितों और स्वार्थों के द्वन्द्ध के कारणों ने साम्प्रदायिकता को अन्दर ही अन्दर तेज कर दिया था। उन्होंने ठीक ही लिखा है समुदायों में मत-मतान्तर के आधार पर द्वन्द्ध नहीं होता बल्कि उसकी नाभि स्वार्थों से जुड़ी है और वह सांसारिक हितों के लिए होता है। इसमें व्यापारी वर्ग और अभिजात वर्ग शामिल रहता है, किसी समुदाय का सामान्य जन नहीं।

आज़ादी की लड़ाई से लेकर आज़ादी के बाद से अब तक पनपती साम्प्रदायिकता को, इतिहास की परिघटनाओं को सन्तुलित नजर से देखते हुए असगर अली इन्जीनियर ने बड़ी साफ नजरों से आज तक की स्थितियों और सच्चाईयों को खँगाला है। एक-एक दंगों के पीछे के आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों का बेबाक खुलासा किया है। वे भी मानते हैं कि सिख विरोधी दंगों ने साम्प्रदायिकता की नींव और पुख्ता कर दी और फिर शाहबानो वाले मसले ने भारतीय राजनीति का पूरी तरह साम्प्रदायीकरण कर दिया। सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को बदलने के लिए मुस्लिम कट्टरपन्थियों के दबाव में आकर जिस तरह संविधान को बदला गया, वह शर्मनाक था। कांग्रेसी सरकार ने संसद में मुस्लिम महिला बिल पास करके मुस्लिम महिलाओं को धर्मनिरपेक्ष कानून से वंचित कर दिया। देश के लिए यह शर्मनाक दौर था क्योंकि मुसलमान कट्टरपंथियों को तुष्ट करने के बाद नाराज़ हिंदुओं को सँभालने के लिए यहीं से कांग्रेस की हिन्दू तुष्टिकरण-नीति की शुरुआत हुई। यह सब भी राजनीतिक स्वार्थ और सत्ता के कारण हुआ। राजीव गांधी ने बाबरी मस्जिद का ताला खुलवा कर, रामलला के दर्शन करने का अधिकार देकर हिन्दुओं को खुश किया। यह भी मात्र एक राजनीतिक कदम था। एक ताला पहले से खुला हुआ था और रामलला के दर्शन करने सैकड़ों हिन्दू रोजाना वहाँ जाते थे। कांग्रेस ने ही अयोध्या में मन्दिर का शिलान्यास करवा दिया। स्वयं राजीव गांधी ने कांग्रेस के चुनाव प्रचार की शुरुआत अयोध्या से की। यह सारा विवाद देश के दोनों समुदायों की धर्मनिरपेक्ष शक्तियों के सामने अब सबसे बड़ी चुनौती बन गया है।

पागलों की यह जमात!

यह एक नया अनुभव और एहसास था। एक निमन्त्रण-पत्र मिला। इसमें एक भव्य मन्दिर, रोशनी की लड़ियों से जगमगाती मस्जिद, अमृतसर के भव्य स्वर्ण मन्दिर, एक बहुत शानदार गिरजाघर के साथ मुस्कराते हुए गांधी जी और सिंहरथ पर तिरंगा लिए खड़ी भारतमाता की बेहद खूबसूरत तस्वीरें थीं। इतना ही नहीं, इसमें गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का राष्ट्रगीत-जन-गण-मन अधिकनाय जय हे, भारत भाग्य विधाता भी छपा हुआ था और साथ में साहिर लुधियानवी और असद रज़ा साहब की दो-दो लाइनें भी निमन्त्रण-पत्र में चस्पां थीं। साहिर साहब की लाइनें हैं :

न हम इस वक्त हिन्दू हैं न मुस्लिम न इसाई
अगर कुछ हैं तो बस इस देस इस धरती के शैदाई

और असद रज़ा साहब की छपी लाइनें हैं :

मुकय्यद रह नहीं सकता किसी मन्दिर या मस्जिद में
वो ख़ालिक है हर इक सीने में अपना घर बनाता है

इतना सब कुछ पढ़ने के बाद भी मैं यह सोचता रहा कि निमन्त्रण-पत्र किस सिलसिले में है? उलटा-पलटा तो फोल्डर के ऊपरी पन्ने पर आतिशबाजी के फूटते अनार की इन्द्रधनुषी तस्वीर थी। तो सहज ही लगा कि कोई महत्वपूर्ण मौका है जिसके लिए बुलाया गया है और फोल्डर पलटा तो सारी इबारत के बीच में यह पढ़ने को मिला :

> 'कि हमारे लिए यह इंतहाई फख़्रो मसर्रत का मुकाम है कि हम अज़ीम हिन्दुस्तान के बाशिन्दे हैं, जिसकी तहजीब, जिसकी फिरकावारा आहंगगी पूरी दुनिया के सामने एक मिसाल रही है। शायद हिन्दुस्तान दुनिया का अकेला मुल्क है, जहाँ एक साथ इतने धर्मों के लोग रहते हैं। हमारी ख्वाहिश है कि इस तकरीब के मौके पर उनका सम्मान करें।'

तो पढ़कर यह लगा कि शायद यह हिन्दुस्तान की तहजीब और इन्सानी परम्परा को रेखांकित करने वाला कोई जलसा है, जिसमें मुझे बुलाया गया है। मेरे पाठक मुझे माफ करेंगे कि निमन्त्रण-पत्र की असलियत और खासियत मैं उन्हें रुक-रुक के बता रहा हूँ लेकिन इस भारत देश की आधारभूत सच्चाई की आत्मा को पहचानने और जानने के लिए यह ज़रूरी है, क्योंकि भारतीय सभ्यता की समन्वय की यही सच्चाई हमारी आज की तात्कालिक राजनीतिक सच्चाई के सामने काम आएगी, जहाँ तरह-तरह से इस समन्वित

होती संस्कृति के मूलाधारों को धार्मिक संघर्ष के रूप में सत्ता प्राप्ति के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। तो अब मैं आपको बता दूँ कि यह निमन्त्रण-पत्र मेरी अपनी दो प्यारी हिन्दुस्तानी बेटियों सबा और रोज़ के निकाह का था, जिन्होंने अपने शरीके-हयात शकील और समीर को खुद चुना था। और मुझे निमन्त्रित करने वाली थीं—भाभी साहिबा रेशमा अज़ीज़ और भाई अज़ीज़ बर्नी साहब। मैं बेटियों की शादी में हाजिर नहीं हो सका क्योंकि मैं शहर से बाहर था।

लेकिन एक दूसरा मौका आया, वह शादी का तो नहीं था, पर उसमें मैं हाजिर था। इस मौके के लिए भी निमन्त्रण आया था, उसकी इबारत थी।

“मोहतरम…, आदाब! अर्ज है कि बराए करम तारीख 23 नवम्बर, 2003 बरोज इतवार को गरीबखाने पर बराए इफतार रोज़ा तशरीफ फरमा होकर खादिम को इज़्ज़त बख्शने की जहमत गवारा फरमाएँ। स्थान पुराना जी.टी. रोड, ईदगाह के पास, होडल! कार्ड पर ऊपर एकादशी के चाँद की बाँहों में शानदार मस्जिद की तस्वीर थी और नीचेवाले कोने में कार्ड भेजने वाले साहब का नाम दर्ज था : मशकूर होंगे—राजेन्द्र सिंह, होडल, फरीदाबाद। लिफाफा, दस्ती तौर पर मिला। लिफाफे पर भी चन्द लाइनें लिखी हुई थीं।...मैं खुद आपकी खिदमत में हाजिर होना चाहता था और यह दावतनामा पेश करना चाहता था, मगर पता चला कि आप बाहर गए हुए हैं। जनाब आप तशरीफ जरूर जाएँ। पूरा मेवात आपका मुंतजिर है, आपका राजेन्द्र सिंह।

मेवात का जिक्र आया तो तभी तय कर लिया कि इस मौके पर हाजिर होना है। घण्टे-भर का रास्ता और दिल्ली-आगरा हाइवे। वही मथुरा रोड, फरीदाबाद, बहादुगढ़, पलवल, फिर होडल। हिस्सा हरियाणा का पर ब्रज संस्कृति का इलाका। होडल के आगे ही पड़ता है कोसी, जहाँ से कृष्णजी के गाँव नन्दगाँव और राधा जी के गाँव बरसाना के लिए सड़क कटती है। दिल्ली-मथुरा-आगरा-मुम्बई हाइवे पर ही पड़ता है बघौला गाँव। पलवल से पहले। यह अकबर के नौ रत्नों में से सबसे प्रख्यात बीरबल का गाँव है। और यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि बीरबल का यह गाँव संस्कृत पठन-पाठन का सबसे बड़ा और इस क्षेत्र का सबसे पुराना केन्द्र है। लगभग सोलहवीं सदी का। आज भी पुरातन संस्कृत विद्यालय यहाँ मौजूद है। यहाँ गुरुकुल प्रणाली अभी भी चली आ रही है। संस्कृत भाषा के हजारों शास्त्री और आचार्य यहाँ से निकल चुके हैं और आज भी संस्कृत पठन-पाठन की परम्पराएँ चली आ रही हैं। यहाँ से कई मुस्लिम विद्यार्थियों ने संस्कृत भाषा में उपाधियाँ प्राप्त की हैं।

होडल से लगा हुआ है बंचारी गाँव। यह कृष्ण जी के बड़े भाई वनचारी बलराम का गाँव है। यह ब्रज मण्डल के विश्व प्रसिद्ध हरियाणवी लोकगायकों का गाँव भी है। तो, इफ्तार का समय था 5.25। हम प्रो. उदयवीर, प्रदीप, पत्रकार सूरजमल और प्रो. रमेश वशिष्ठ के साथ एक मिनट देर से पहुँचे। सोचा था सौ-दो सौ लोग होंगे। पर वहाँ मौजूद थे कम से कम पाँच हजार मेवाती किसान। वे ईदगाह के सामने महारानी किशोरी बाई कन्या महाविद्यालय के विशाल प्रांगण में कतारबद्ध खड़े नमाज अदा कर रहे थे! छुआरे-खजूर और नमक से वे रोजा इफ्तार कर चुके थे। और एक तरफ खुले मैदान में मौजूद थे हिन्दुओं और हिन्दू जाटों की सभी खापों के बड़े-बुजुर्ग, यह परम्परा चली आ रही है और इसे जोर-

शोर से निभा रहे हैं वही निमन्त्रण के 'मशकूर होंगे' वाले अस्सी वर्षीय राजेन्द्र सिंह और उनके यशस्वी पुत्र हर्ष! नमाजियों के सामने पत्तले रखी थीं और हाथों में डोंगे लिए कतार में खड़े थे, खाना परोसने के लिए पचासों नौजवान जाट, नमाज समाप्त होने के इन्तजार में। नमाज खत्म हुई तो मेवाती किसानों ने बीड़ियाँ सुलगाईं, तब तक पत्तलों में खाना परोस दिया गया। हिन्दू जाटों की भीड़ ने भी साथ खाया। वहीं राजेन्द्र सिंह जी और श्री हर्ष ने बताया कि हमारी तो सदियों से 'भाइचारे' की यही परम्परा चली आ रही है। हममें बँटवारा नहीं होता, कोई मामला हो तो भी अपनी खाप के हिसाब से मुसलमान जाट हिन्दू जाट का साथ देता है, साथ खड़ा होता है।

महारानी किशोरीबाई महाराज सूरजमल की पटरानी थीं। इन्हीं महाराज सूरजमल ने मुसलमानों की दिल्ली से मीर तकी मीर को बचाकर बरसाना में पनाह दी थी। इन्हीं की महारानी किशोरबाई की सातवीं पीढ़ी में हैं राजेन्द्र सिंह। इन्हीं की पत्नी हैं शोभना जी, जो वनस्थली विद्यापीठ की पहली खेप की स्नातक हैं। इन्हीं के पुत्र हैं हर्ष, जो मेवात की ग्रामीण लड़कियों के लिए महाविद्यालय चलाते हैं। मेवाती मुसलमान किसानों की हजारों लड़कियाँ यहाँ नि:शुल्क पढ़ती हैं। इनके लिए फ्री स्कूल बसें चलती हैं, जो इन्हें लाती और वापसी में घरवालों के हवाले करके आती हैं।

और क्या यह नया अनुभव और एहसास नहीं था कि इन्हीं में से कई मेवाती मुसलमान लड़कियाँ कृष्णलीलाओं पर निबन्ध और कविताएँ लिखती हैं, परीक्षाओं में अव्वल आती हैं। भारत के मौजूदा हालात पर डिबेट में शील्ड जीतकर लाती हैं। समझ में नहीं आता कि सबा, रोज़, शकील, समीर, श्रीमती रेशमा अज़ीज़ और अज़ीज़ बर्नी साहब को क्या हो रहा है कि शादी का निमन्त्रण कार्ड सिंहवाहिनी भारतमाता और गुरुदेव टैगोर का राष्ट्रगीत लेकर आता है जबकि किसी भी हिन्दू का निमन्त्रण पत्र 'वक्रतुण्ड महाकाय...' की स्तुति से आगे नहीं जा पाया है! और यह क्या हो रहा है राजेन्द्रसिंह जी को, जो इफ्तार की रस्म निभाते हैं और हर धर्म की लड़कियों को स्नातकोत्तर कक्षाओं तक निःशुल्क पढ़ाते हैं।

ऐसे पागल भी भारत में पैदा हो गए हैं, अब बताइए ऐसे पागलों का आप क्या करेंगे?

खतरनाक है प्रतिबन्धों की राजनीति

यह एक अजीब संयोग है कि जेहादी इस्लाम द्वारा प्रताड़ित और मौत की सजा के लिए फतवाग्रस्त दोनों लेखक इस समय भारत में हैं। सलमान रुश्दी अपनी महिला मित्र पद्मालक्ष्मी के साथ मुम्बई में हैं और बांग्ला लेखिका तसलीमा नसरीन कोलाकाता में मौजूद हैं। सलमान रुश्दी का उपन्यास 'सेटेनिक वर्सेज' भारत में प्रतिबन्धित है। तसलीमा नसरीन की आत्मकथा का तीसरा खण्ड 'द्विखण्डिता' भी बंगाल में प्रतिबन्धित है। दोनों रचनाओं पर इस्लाम को अपमानित करने का आरोप है। दोनों लेखक जन्मना मुसलमान हैं। दोनों ही भारतीय मूल के हैं, तसलीमा नसरीन पर मज़हब को अपमानित करने के साथ-साथ अश्लीलता का भी आरोप है। सलमान रुश्दी की मौत का फतवा ईरान के दिवंगत धर्मगुरु खुमैनी ने जारी किया था। तसलीमा नसरीन की मौत का फतवा बंग्लादेश के कठमुल्ला काजी ने जारी किया है। दोनों के फतवों को धर्मान्ध मुसलमानों का समर्थन प्राप्त है। सलमान रुश्दी पर मौत का वैश्विक खतरा है। तसलीमा नसरीन पर यह खतरा क्षेत्रीय है। जो भी हो, खतरा तो खतरा है।

सलमान रुश्दी को मौत के घाट उतारने वाले के लिए लाखों पौण्ड का इनाम घोषित किया गया था। उसकी रक्षा ब्रिटेन की सरकार ने की थी। वे वर्षों अण्डरग्राउण्ड रहे थे। उनकी सुरक्षा पर ब्रिटेन की सरकार ने लाखों पौण्ड खर्च किए थे। इस पर ब्रिटिश संसद में सवाल तक उठे थे कि एक लेखक की जान बचाने के लिए इतना धन क्यों बर्बाद किया जा रहा है। सलमान रुश्दी के सर से फतवा अभी तक टला नहीं है, पर इसकी उग्रता क्षीण हो गई है। सलमान रुश्दी अपनी महिला मित्र पद्मालक्ष्मी के साथ ताजमहल होटल मुम्बई में ठहरे हुए हैं। वे बम्बई के निवासी भी रहे हैं। वे अपनी पुरानी यादों को ताजा कर रहे हैं। वे ब्रीच कैण्डी और फोर्ट के स्थानों और गलियों तक को अभी भी पहचान सकते हैं। राजकुमार और सुनीता पीताम्बर के साथ उन्होंने जो दिन गुजारे थे, उन्हें आज भी याद करते हैं। वे भारत में अधिक वक्त गुजारना चाहते हैं और अपने दादाजी की स्मृति में वे अपनी हिमाचल प्रदेश वाली पुश्तैनी हवेली को 'राइटर-इन-रेजिडेंस' में बदल देना चाहते हैं। सलमान रुश्दी एक नया उपन्यास भी लिख रहे हैं जो मुम्बई पर ही केन्द्रित होगा। वे कहते हैं कि यह अपने लोग हैं, अपना घर है।

तसलीमा नसरीन के साथ ऐसा कुछ नहीं है। पर अपने देश से निष्काषित्त होने के बाद वे भारत में शरण चाहती रही थीं। वे कोलकाता में ही रहना चाहती थीं, अपनी-सांस्कृतिक

ज़रूरतों के कारण, पर जब यह सम्भव नहीं हो पाया तो यूरोप के उत्तरी देश नार्वे ने उन्हें शरण दी, अभी वे अमेरिका से आई हैं और कोलकाता के ग्रैण्ड हौटल में ठहरी हैं। 'द्विखण्डिता' के बाद वे अपनी आत्मकथा का चौथा खण्ड 'वे अँधेरे दिन' लिखकर लाई हैं, जिसे उन्होंने आते ही अपने प्रकाशक पीपुल्स बुक सोसाइटी को सौंप दिया है। उनकी जान का खतरा बना हुआ है। पुलिस उनकी सुरक्षा में लगी हुई है। उनकी यह पुस्तक कोलकाता पुस्तक मेले (28 जनवरी-8 फरवरी) में आ जाएगी। तसलीमा ने घोषित किया है कि वे मुस्लिम कट्टरपंथियों से भयभीत नहीं हैं। वे पुस्तक मेले में बारहों दिन उपस्थित रहेंगी। उनके विरोध में मुस्लिम कट्टरपन्थियों की जमात उठ खड़ी हुई है। जमाते-उलेमा-ए-हिन्द जैसी दकियानूसी पार्टी उन धर्मान्ध लोगों का नेतृत्व कर रही है। वैसे सरकार ने तसलीमा की सुरक्षा का व्यापक बन्दोबस्त किया है, पर इसी के साथ जमात के कठमुल्लाओं ने बंगाल सरकार से माँग की है कि तसलीमा को यहाँ रुकने की इजाज़त न दी जाए...हम पुस्तक मेले के दौरान उनकी पुस्तक का प्रकाशन नहीं होने देंगे। तसलीमा नसरीन समाज के लिए ज़हर हैं।

धर्मान्ध शक्तियाँ जो शोर मचाती हैं, या दबाव बनाती हैं, उनकी जद में जब सरकारें आ जाती हैं, तब यह संगीन चिन्ता का विषय बन जाता है। सलमान रुश्दी और तसलीमा, दोनों की पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगा हुआ है, पर दोनों प्रतिबन्धों में तीन तरह का फर्क है। रुश्दी की किताब पर केन्द्र सरकार ने प्रतिबन्ध लगाया था, तसलीमा की किताब बंगाल सरकार ने प्रतिबन्धित की है। इसमें समानता यह है कि केन्द्र और राज्य सरकार ने मुस्लिम धर्मान्ध शक्तियों के दबाव में आकर ऐसा किया है। स्थिति में दूसरा फर्क यह है रुश्दी की किताब पर राजीव गांधी की धर्मनिरपेक्ष केन्द्रीय सरकार ने प्रतिबन्ध लगाया था और तसलीमा की किताब पर बंगाल की घनघोर धर्म-निरपेक्षतावादी बुद्धदेव भट्टाचार्य की वामपन्थी सरकार ने लगाया है। क्या धर्मनिरपेक्ष सरकारों को यह अधिकार है कि वे प्रतिबन्ध लगाकर धर्म के कठमुल्लाओं को खुश करती रहें या धर्म के मामलों में मनमाना दखल करती रहें? बुद्धदेव भट्टाचार्य तो निश्चय ही नास्तिक होंगे। उन्हें किसी भी धर्म का विशेषज्ञ नहीं माना जा सकता। इस प्रसंग पर हम आगे चर्चा करेंगे। तीसरे फर्क पर पहले ध्यान दे लें। रुश्दी पुरुष हैं, तसलीमा नारी। रुश्दी पर वे वर्जनाएँ नहीं हैं जो तसलीमा पर आयद की गई हैं।

सोचने का मुद्दा यह है कि तसलीमा को धर्म की रूढ़ियों में, जिन्हें मर्यादा कहा जा रहा है, क्यों बाँधा जा रहा है? उन पर अश्लीलता का जो आरोप लगाया गया है वह इसलिए कि वह औरत होने के नाते अपने प्रेम-सम्बन्धों और यौन-सम्बन्धों के बारे में बात नहीं कर सकती जबकि पुरुष कर सकता है। यह हमारी सामाजिकता के दोहरे मानदण्ड हैं। यह पुरुष वर्चस्वता और नारी को मानसिक गुलामी में बाँधे रखने का मसला है। सर्जनात्मक स्वतन्त्रता के इन दोहरे मानदण्डों को मंजूर नहीं किया जा सकता। तसलीमा का लेखन कितना रचनात्मक है या कितना नहीं, बहस इस बात पर नहीं है, पर इस पक्ष को कैसे नकारा जा सकता है कि सर्जना की उनकी स्वतन्त्रता किसी पुरुष लेखक से कमतर नहीं है। इस दृष्टि से तसलीमा को एक साहसी लेखक के रूप में तस्लीम किया जाना चाहिए।

अब इसके साम्प्रदायिक पक्ष पर भी गौर कर लीजिए। क्या किसी राजनेता को यह अधिकार दिया जा सकता है कि वह किसी रचना को पढ़ ले या पढ़वा ले और उस पर प्रतिबन्ध लगा दे। क्या उसकी या उसे राय देने वाले की अक्ल पर भरोसा किया जा सकता है कि वह किसी पुस्तक को अपने सिवा दूसरे द्वारा पढ़े जाने योग्य न समझे? यही राजीव गांधी ने किया था और अब यही बुद्धदेव भट्टाचार्य ने किया है। दोनों की धर्मनिरपेक्षता असन्दिग्ध है। पर धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को लागू किए जाने में यहीं पर राजनीतिक खोट है। आप धर्मान्ध हिन्दुओं और धर्मान्ध मुसलमानों में भेद नहीं कर सकते। धर्मान्ध मुसलमानों को वोट की राजनीति के लिए खुश करके धर्मान्ध हिन्दुओं को काबू में नहीं रखा जा सकता। दोनों सम्प्रदाओं की धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता समान रूप से बर्बर और खतरनाक है। इसे इस पैमाने से नहीं नापा जा सकता कि दंगे-फसाद में किसका कम या किसका ज्यादा नुकसान हुआ। नपाई करने का यह नितान्त गलत पैमाना है। इसे हिन्दू-मुसलमान-ईसाई-सिख नुकसान के रूप में भी नहीं लिया जा सकता। यह बहुलतावादी भारत के भारतीय और भारतीयता का नुकसान है। और क्या यह मखौल की बात नहीं है कि बुद्धदेव भट्टाचार्य द्वारा 'द्विखण्डिता' पर प्रतिबन्ध लगाए जाने के दूसरे ही दिन वह पुस्तक इंटरनेट पर उपलब्ध थी और कोई भी उसे पढ़ सकता था। यही हाल सलमान रुश्दी की प्रतिबन्धित पुस्तक 'सेटेनिक वर्सेज' का है। वे पुस्तकें उतनी खतरनाक नहीं हैं, जितनी की धर्म-निरपेक्षता के नाम पर चल रही यह प्रतिबन्धों की राजनीति खतरनाक है। यह घटिया राजनीति ही धर्मनिरपेक्षता के उदात्त सिद्धान्त की हत्या कर रही है।

तसलीमा की 'द्विखण्डिता' का मामला शायद इसलिए भी ज़्यादा संगीन बना दिया गया कि उसकी विद्रोही आत्मकथा ने पुरुषों का शीलभंग किया है।

वो परेशान-सा क्यों है

रथयात्रा शुरू हो चुकी है। लोगों को पता है कि इसका मनोवैज्ञानिक मंतव्य क्या है। यह उसी तरह का हिन्दू-जागरण मंच है जैसे भगवती जागरण होते हैं। पूरा देश रथयात्रा के जहरीले अनुभव से परिचित हे। अभी तक जो रथयात्राएँ की गयी हैं, उनके नतीजों को कोई भूला नहीं है। भूलने का सवाल भी नहीं है। इससे हमारा सीधा-सादा समाज भयग्रस्त होता है, खास तौर से भारतीय मुस्लिम समाज। चुनाव आयोग की आचार-संहिता में रथयात्रा को अनुचित न माना जाए पर लोकतन्त्र की मानवीय संहिता इसे कभी भी सही नहीं मान सकती क्योंकि यह धर्म के आधार पर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का अलोकतांत्रिक तरीका है। भाजपा नेता आडवाणी की यह रथयात्रा देश के नागरिक को भारतीय नहीं बनाती बल्कि धर्म के आधार पर हिन्दू को अधिक हिन्दू और भारतीय मुसलमान को कमतर भारतीय बनाती है।

इस परिप्रेक्ष्य में मैं इस बार भारतीय मुसलमान, उसकी पहचान और उसके भारतीय अस्तित्व को लेकर बात करना ज़रूरी समझता हूँ। मेरे हिसाब से भारतीय राजनीति और हम बुद्धिजीवियों ने जाने-अनजाने कुछ ऐसी भूलें और ज्यादतियाँ की हैं, जिनकी वजह से देश की हिन्दुत्ववादी शक्तियों ने मुसलमानों को घेर लिया है। सच्चाई यही है कि तमाम प्रगतिचेता उदारपन्थी हिन्दुओं के होते हुए भी भारतीय मुसलमान भीतर ही भीतर तिलमिलाया हुआ रहता है। वह लगातार परेशान-सा रहता है। वह अपने भविष्य को लेकर बेफिक्र नहीं है। मशहूर शायर निदा फाजली के शब्दों में कहूँ तो :

सब मेरे चाहने वाले हैं, मेरा कोई नहीं,
मैं भी इस मुल्क में उर्दू की तरह रहता हूँ।

लेकिन सच पूछिए तो भारतीय मुसलमान की हालत उर्दू से भी बदतर है। उसकी क़द्र उर्दू भाषा से भी कमतर है। आजादी, विभाजन और तिरस्कार की जितनी तकलीफ भारतीय मुसलमान ने उठाई और चुकाई है, वह दुनिया के किसी देश के बाशिन्दों ने नहीं चुकाई है। विभाजन के दो-कौमी-सिद्धान्त को ठुकरा कर जिस मुसलमान ने अपनी भारतीय कौमियत या अपनी ज़मीन की भावनाओं को पहचाना था, वह इस देश की एकता के लिए कितनी कुर्बानी दे रहा है, इसे पहचानने वाले बहुत कम हैं, मानने वाले तो और भी कम हैं। इस कोढ़ में संघ परिवार ने खाज पैदा कर रखी है, यह कहकर कि भारत हिन्दू राष्ट्र है। इसमें मुसलमानों को रहना है तो हिन्दू भावनाओं का आदर करके या उनके

अधीन। संघ परिवार सेकुलर सरकार की अवधारणा से भी सहमत नहीं है। वे संविधान के प्रावधानों को भी बदलने की धमकी देते हैं। वे मध्यकाल के इतिहास का बदला लेने की बातें भी करते रहते हैं और उस पर अमल भी कर डालते हैं। बाबरी मस्जिद विध्वंस और गुजरात का नरसंहार इसके जीते-जागते नमूने हैं। वे इतिहास की पुस्तकों को भी बदल रहे हैं। इन और ऐसी तमाम बातों के चलते भारत का मुसलमान लगातार अपने वजूद और पहचान को लेकर शंकित और भयग्रस्त रहता है।

इधर भाजपा के उत्तर प्रदेश-अध्यक्ष और बाबरी मस्जिद विध्वंस के समय विश्व हिन्दू परिषद के नेता रहे विनय कटियार ने फतवा दिया है कि 'उर्दू दहशतगर्दों की भाषा है!' इसे लेकर हिन्दी का कोई लेखक या भाषा-शास्त्री नहीं तिलमिलाया, क्योंकि उन्होंने उर्दू के वजूद को लेकर अपने दिमाग़ों पर ताले डाल रखे हैं। वे भूल रहे हैं कि यह उर्दू इसी हिन्दुस्तान की अपनी भाषा है, जिसने यहाँ पैदा होकर कुलीन सामन्तों की भाषा फारसी, मुस्लिम धर्म-शास्त्रियों की भाषा अरबी और राजकाज की भाषा तुर्की के वर्चस्व को जनभाषा बनकर तोड़ा था। मैं अपने हिन्दी विद्वानों से माफी माँगकर कहना चाहूँगा कि आप इस मुगालते से निकल आइए कि उर्दू हिन्दी की एक शैली है। जब मध्यकाल के सुलतानी दौर में फारसी, अरबी, और तुर्की के वर्चस्व को, जनभाषा के रूप में उदित होकर लाहौरी उर्दू ने तोड़ा था, तब हिन्दी कहीं नहीं थी। फारसी के प्रभाव से मुक्त होकर तब 'लाहौरी' भाषा विकसित हुई थी, जिसका पहला ज्ञात कवि है मसूद-बिन-सअद सलमान, जो लाहौर में सन् 1048 के आसपास पैदा हुआ था, जिसने अरबी, फारसी और लाहौरी (जिसे हिन्द की भाषा कहा जाता था) में शायरी की थी, तब तक इस जनभाषा के लिए उर्दू शब्द चलन में नहीं आया था। तब यह फारसी और गुरुमुखी लिपि में लिखी गयी होगी। हिन्द की इसी भाषा को दो सदियों के बाद सन् 1253 में जन्मे (देहान्त सन् 1325) अमीर खुसरो ने एटा, मेरठ, नजीबाबाद, सहारनपुर आदि इलाकों में विकसित होती खड़ी बोली से जोड़कर 'हिन्दवी' नाम दिया था। यह लश्करी-तम्बुओं से निकलकर आई भाषा 'उर्दू' नहीं थी। तम्बुओं से भाषाएँ नहीं निकलतीं, वह अवाम के दिलो-दिमाग़ से निकलती हैं। उस समय लाहौर शक्ति का केन्द्र था, दिल्ली नहीं। इसीलिए 'लाहौरी' (यानी जनभाषा उर्दू) ने अपनी निर्मित होती भाषा का प्रथम प्रारूप प्रस्तुत किया था। हम हिन्दीवालों को इस अहंकारी भ्रम से बाहर आना चाहिए कि उर्दू भाषा हिन्दी की एक शैली है। हमें मंजूर करना चाहिए कि उर्दू इस देश की सांस्कृतिक ज़रूरतों से जन्मी वह भाषा है, जिसने हमें अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओं के वर्चस्व से मुक्त किया है। विनय कटियार जैसे अनपढ़ जाहिलों को यह जानना चाहिए कि यह उन जैसे दहशतगर्दों की भाषा नहीं, यह स्वतन्त्रता संग्राम में 'इन्कलात जिन्दाबाद' का नारा देने वाली भाषा है! उस स्वतन्त्रता संग्राम की, जिसमें विनय कटियार जैसे आज के हिन्दुत्ववादी दहशतगर्द शामिल नहीं थे!

और भी तरह-तरह के इल्जाम उर्दू पर लगाये जाते हैं, वग़ैर यह जाने हुए कि यह सिर्फ़ मुसलमानों की भाषा नहीं है। इस भाषा और इसकी लिपि को पंजाब के आर्य समाजियों ने भी अपनाया था। प्रेमचन्द (धनपतराय) ने इसी भाषा और लिपि में 'सोज़ेवतन' की कहानियाँ लिखी थीं। भारत के अन्य समुदायों की तरह मुसलमान भी अपनी क्षेत्रीय भाषाएँ बोलता है। उसकी धर्म-भाषा उर्दू नहीं अरबी है, वैसे ही जैसे हिन्दुओं

की संस्कृत, बौद्धों की पाली, ईसाइयों की पुरानी अंग्रेजी, सिखों की पंजाबी आदि हैं। उर्दू धार्मिक भाषा नहीं, आम नागरिक की सांस्कृतिक भाषा है। लेकिन उर्दू के नाम पर मुसलमानों को सताया जाता है। आखिर हिन्दुत्ववादी दहशतगर्दों की अमली भाषा भी तो हिन्दी है। इसके लिए हिन्दी वाले हिन्दुओं को क्यों जिम्मेदार नहीं ठहराया जाता?

और चलते-चलते भारत के उपप्रधानमन्त्री लालकृष्ण आडवाणी का एक और चुनावी बयान आ गया। मैं इस पर अपने एक लेख का एक अंश दोबारा पेश करना चाहूँगा—चापलूस मुसलमानों से हरा साफा बँधवाते हुए आडवाणी ने एक निहायत फूहड़ बयान दिया, उन्होंने कहा कि भारत-पाकिस्तान के रिश्तों में जो सुधार हो रहा है, उसकी अहमियत को भारतीय मुसलमानों को समझना चाहिए और हमारी हिन्दुत्ववादी पार्टी का साथ देना चाहिए! यह एक साजिशी बयान हे। यह बयान भारतीय मुसलमान का अपमान करता है। क्या भारतीय मुसलमान की वतनपरस्ती को पाकिस्तान से बेहतर होते रिश्तों के पैमाने से नापा जायेगा? क्या भारतीय मुसलमान की वतनपरस्ती को पाकिस्तान तय करता है! यहाँ यह बताना ज़रूरी है कि भारत के यह मुसलमान उन भारतीयों के वंशज हैं, जिन्होंने मज़हबी आधार पर दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को मंजूर नहीं किया था। लेकिन आडवाणी वह व्यक्ति हैं, जो अपने वतन को छोड़कर भारत भाग आये थे। इस फर्क को पहचाना जाना चाहिए क्योंकि भारत का भारतीय मुसलमान आडवाणी के मुकाबले में अधिक भारतीय है। वह भारत की अपनी विशिष्ट इस्लामी पहचान और तहजीब का वारिस है। भारतीय मुसलमानों के मदरसों में दहशतगर्त पैदा नहीं होते बल्कि अपनी गरीबी और पिछड़ेपन के बावजूद बेहतर मुसलमान पैदा होते हैं। यह ग़लत इल्जाम है कि उर्दू ने हमें तोड़ा और मुसलमानों को मुख्यधारा से अलग-थलग किया है। असलियत यह है कि उर्दू और भोजपुरी भाषा ने इस देश को ही नहीं, परदेसियों को भी हमसे जोड़ा है। उर्दू लिपि पर बिना सोचे-समझे हमले किए जाते हैं। यह भूलकर कि कोई तहजीब पूरे वजूद के साथ जो हुनरमन्दी उँगलियों में पैदा करती है, उर्दू लिपि उसी की खूबसूरती का सबूत है! वह भारत की अन्य लिपियों की तरह ही यहाँ की तहजीब की प्रतीक और उसका एक हिस्सा है। अगर हम इन्हीं कुछेक ज़रूरी बातों को लेकर दिमाग़ी जाले साफ कर लें तो भारतीय मुसलमान को काफी राहत मिलेगी और वह राजनीतिक रथयात्राओं में मौजूद साम्प्रदायिकता का सामना भी बेहतर तरीके से कर सकेगा।

जब भूख पहुँचती है दिमाग़ में

राष्ट्रीय एकता परिषद की मीटिंग तेरह वर्षों बाद विज्ञान भवन में 31 अगस्त, 2005 को सम्पन्न हुई। इससे पहली वाली मीटिंग नवम्बर 1962 में सम्पन्न हुई थी, तब उन दिनों बाबरी मस्जिद-राम मन्दिर विवाद अपने चरम पर था और कारसेवकों के जत्थे अयोध्या पहुँच रहे थे। तब उत्तर प्रदेश के तत्कालीन भाजपाई मुख्यमन्त्री कल्याण सिंह ने राष्ट्रीय एकता परिषद को यह आश्वासन दिया था कि कुछ भी हो, हिन्दुत्ववादी कारसेवकों को साम्प्रदायिक शान्ति भंग करने का और बाबरी मस्जिद के ढाँचे को नुकसान पहुँचाने का कोई अवसर नहीं दिया जाएगा। सरकारी मशीनरी साम्प्रदायिक सद्भाव बनाए रखने और किसी भी तरह की तोड़-फोड़ न किए जाने की गारण्टी देती है! लेकिन हुआ इसका बिल्कुल उल्टा। बाबरी मस्जिद को 6 दिसम्बर, 1992 को ढहा दिया गया। इसके बाद साम्प्रदायिक दंगों और मारकाट का जो सिलसिला चला, उन भयानक अनुभवों के जख्म अभी तक जीवित हैं। वह सिलसिला गोधरा रेलकाण्ड और गुजरात के मुस्लिम नरसंहार तक चलता रहा। इससे पहले सन् 1984 में, इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद हुए सिख नरसंहार के जख्मों से खून अभी भी रिस रहा है।

राष्ट्रीय एकता परिषद की इस ऐतिहासिक मीटिंग में प्रख्यात कानूनविद राम जेठामलानी ने बहुत खुलकर कहा कि जो भूखा है, वह नहीं जानता कि राष्ट्रीय एकता किस चिड़िया का नाम है। और जहाँ तक मुसलमानों के तुष्टिकरण का मसला है तो मैं कहूँगा कि मुसलमानों का तुष्टिकरण ज़रूरी है क्योंकि विभाजन के बाद जिन मुसलमानों ने अल्पसंख्यक के रूप में भारत में रहने का फैसला किया है, उन्हें भरोसा देना हमारा फर्ज है। मार्क्सवादी नेता प्रकाश करात ने गुजरात नरसंहार और गोधरा काण्ड के दोषियों को दण्डित करने की बात उठाई और खुलकर कहा कि गुजरात जैसे हादसों के दायित्व बोध को समझा जाना चाहिए! गोधरा-गुजरात के व्यापक नरसंहारों पर आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं क्योंकि इस नरसंहार के दोषी लोगों को सामने लाने और सजा दिलवाने के मामले में वहाँ के ही नहीं, देश के लोगों का वहाँ की पुलिस और न्यायिक व्यवस्था पर से भरोसा टूटा है। उन्होंने यह भी कहा कि विगत वर्ष में साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाओं में कमी आई है, लेकिन साम्प्रदायिक हिंसा के सवाल को कमतर नहीं आँका जाना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि कुछ तत्त्वों द्वारा धर्मनिरपेक्षता का मुखौटा लगाकर राष्ट्रीय एकता के लिए एक देश, एक भाषा, और एक संस्कृति का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया जाता हे।

और यह बात सन्दर्भहीन नहीं थी क्योंकि भाजपा के पूर्व प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने इस बार राष्ट्रीय एकता परिषद के नाम पर ही सवाल-सा खड़ा कर दिया और कहा कि राष्ट्रीय एकता परिषद की जगह इसे राष्ट्रीय एकात्मकता परिषद कहा जाए तो बेहतर होगा। विपक्ष के नेता के रूप में शामिल लालकृष्ण आडवाणी ने भी एकात्मता शब्द का समर्थन किया और बाद में बोलते हुए गुजरात के कुख्यात मुख्यमन्त्री ने भी एकता की जगह एकात्मता शब्द का ही प्रयोग किया। इससे साफ जाहिर था कि यह शब्द उसी सैद्धान्तिक शब्दकोश से आता है जो आरएसएस ने तैयार कर रखा है! नहीं मालूम कि इन लोगों का काम उन हिन्दी शब्दों से क्यों नहीं चलता, जिन्हें यह देश अपना लेता है। सांस्कृतिक विविधता की बात करो तो यह लोग सांस्कृतिक एकरूपता की बात करते हैं और हिन्दू जैसे उदार शब्द की जगह यह लोग हिन्दुत्व शब्द को आगे बढ़ाते हैं।

शब्दों की हेराफेरी और अर्थों की विषमता का यह प्रकरण तब एकदम साफ हो जाता है जब हम अटलबिहारी वाजपेयी और लालकृष्ण आडवाणी को यह स्थापित करते हुए पाते हैं कि जिन्ना धर्मनिरपेक्ष थे! जिन्ना की ‘धर्मनिरपेक्षता’ के सहारे यह छद्म गढ़ा जाता है कि आरएसएस भी उतना ही धर्मनिरपेक्ष है, जितने जिन्ना थे या रहे थे, और जिस तरह जिन्ना मुस्तिम राजनीति में उतरे उसी तरह आरएसएस को हिन्दुत्ववादी राजनीति में उतरना पड़ा। जिन्ना को सही साबित करके यह साम्प्रदायिक तत्त्व गांधी जी और नेहरू की धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा और सोच को ग़लत साबित करने के लिए तत्पर हैं। और यह तब, जबकि राष्ट्रीय एकता परिषद की सोच को सन् 1962 में स्वयं जवाहरलाल नेहरू ने रेखांकित करते हुए इस जन-परिषद की स्थापना की थी, और अटल बिहारी वाजपेयी उस पहली परिषद में भी शामिल थे।

प्रख्यात विश्लेषक प्रभाष जोशी के शब्दों में कहें तो यह कि अपनी साम्प्रदायिकता को सही ठहराने की खातिर यह तत्त्व जो थीथिस सामने रखते हैं, वह यह कि जिन्ना बेचारे तो कट्टर धर्मनिरपेक्ष और राष्ट्रवादी थे, वह तो गांधी जी ने सन् 1920 में, लोकमान्य तिलक के निधन के बाद, कांग्रेस की नेतागीरी हथियाई और उन्होंने खिलाफत आन्दोलन का साथ दिया। गांधी के इस परम साम्प्रदायिक आन्दोलन का जिन्ना ने विरोध किया। वे नहीं चाहते थे कि तुर्की के खलीफा के धार्मिक अधिकारों और पद के पक्ष में, भारत में आन्दोलन छेड़ा जाए। जिन्ना इस आन्दोलन को कांग्रेस का आन्दोलन बनाने के बेहद खिलाफ थे। और यह भी कि इसी मुद्दे पर जिन्ना ने सन् 1920 के नागपुर अधिवेशन के बाद कांग्रेस छोड़ दी। तब गांधी जी ने अलीबन्धुओं की मदद से खिलाफत आन्दोलन चलाया, जिससे राजनीति में मुस्लिम तुष्टिकरण की शुरुआत हुई! मुस्लिम समाज में साम्प्रदायिकता फैली और आखिर जिन्ना जैसे धर्मनिरपेक्ष और राष्ट्रवादी को भी गांधीजी का विरोध करने के लिए घोर सम्प्रदायवादी बनना पड़ा। हिन्दुत्वादियों ने यह थीसिस तैयार की है, ताकि वे अपनी साम्प्रदयिकता को सही ठहरा सकें।

तो सोचने और समझने का मसला यह है कि हिन्दुत्ववादी राजनीतिधर्मी धर्मनिरपेक्षता और जनधर्मी धर्मनिरपेक्षता के मौलिक अन्तर को साप्रयास स्थापित किया जाए क्योंकि राजसत्ता के हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या सिख होने से प्रजा का धर्म नहीं बदलता और न उसकी राष्ट्रीयता। भारत में कभी भी राष्ट्रीयता धर्म के आधार पर तय नहीं

हुई! यह शुरू से ही बहुधर्मी, बहुभाषी, बहुसंस्कृति-धर्मी देश रहा है। यह हिन्दू या हिन्दुत्ववादी देश कभी नहीं रहा। गांधी जी ने तुर्की के खलीफा की हिमायत में जो आन्दोलन चलाया था वह मुस्लिम तुष्टिकरण के लिए नहीं, बल्कि अंग्रेजों ने धर्मों के अलगाव की जो नीति अपनाई थी, उससे पार पाने और अंग्रेज परस्ती के तहत राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक् रहने का जो आहान सर सैयद अहमद खाँ जैसे लोगों ने किया था, उसे तोड़कर मुसलमानों को राष्ट्रवादी संग्राम की मुख्यधारा में लाने के लिए किया था।

यहाँ ज़रूरी है कि कानूनविद् राम जेठामलानी की बात को फिर रेखांकित किया जाए और इस बात की अहमियत को समझा जाए कि राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा तब पैदा होता है जब पेट की भूख दिमाग़ में पहुँचती है! अतः ज़रूरी है कि राष्ट्रीय एकता परिषद द्वारा दिए गए इस सुझाव पर अमल किया जाए कि साम्प्रदायिक सद्भाव को धार्मिक दृष्टिकोण से नहीं बल्कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से देखा और समझा जाए। गृह मन्त्री शिवराज पाटिल ने इसका अनुमोदन किया और कहा कि जब लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय नहीं मिल पाता तो वे साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए खतरा बन जाते हैं। और केन्द्रीय गृहमन्त्री शिवराज पाटिल ने यह सुखद समाचार भी दिया कि साम्प्रदायिक हिंसा से निपटने का विधेयक अन्तिम चरण में है। राष्ट्रीय एकता परिषद ने यह सार्थक सुझाव भी दिया कि यदि राज्य सरकार साम्प्रदायिक हिंसा से निपट सकने में किसी भी कारण से नाकाम रहती है तो ऐसा कानून बनाया जा रहा है कि केन्द्र सरकार सीधा हस्तक्षेप कर सके।

पाकिस्तानी कैदियों का मसला

पाकिस्तान के क़ैदियों का सवाल और ख़त

यह एक दर्द भरी आकस्मिक और इंसानी परिघटना है।

एकाएक सन् 2004 में 15 मार्च के आस-पास एक पत्र मिला, सोचा, किसी पाठक का पत्र होगा, आराम से पढ़ूँगा। लेकिन ध्यान शुरू की तीन औपचारिक पंक्तियों के बाद चौथी पंक्ति पर गया तो पत्र उसी समय पढ़ा। शुरू की पंक्तियाँ थीं—'मेरा नाम साजिद बशीर है, मैं पेशे से पत्रकार हूँ। 27 अगस्त, 1991 से ही केन्द्रीय कारागृह, जयपुर में असहाय क़ैदी के रूप में ज़िन्दगी गुज़ार रहा हूँ।'

छपे हुए पत्र में आप यह पंक्तियाँ पढ़ेंगे ही। पत्र पढ़ते-पढ़ते में चिन्ताग्रस्त हो गया। वैसे लेखकों-पत्रकारों के पास मुसीबत और तकलीफ़ज़दा इन्सानों के पत्र आते ही हैं, पर यह पत्र मेरे लिए बेहद ग़ैर-मामूली और बहुत महत्वपूर्ण था। ताज्जुब यह था कि पाकिस्तानी पत्रकार क़ैदी ने यह पत्र जेल से लिखा था। और यह मुझ तक पहुँच सका था। इसमें एक भी लाइन सेंसर नहीं की गई थी। मन में सवाल यह उठा कि आखिर साजिद बशीर को मेरा नाम और पता कहाँ से मिला और उन्होंने यह पत्र मुझे ही क्यों लिखा? उन्हें केन्द्रीय कारागार में मेरे बारे में किसने बताया और मेरा पता दिया। वैसे यह पत्र पत्रकार क़ैदी का न होकर किसी भी क़ैदी का होता, तो मैं चिन्ताग्रस्त तो होता ही, पर यह पत्र इसलिए खासतौर से मेरे ज़मीर और दिल पर दस्तक देने लगा क्योंकि यह एक पाकिस्तानी क़ैदी का बेहद संगीन मानवीय मसला था!

पहले यह पत्र पढ़ लीजिए।

पत्र न. 1

3.3.04

श्री कमलेश्वर साहिब

नमस्कार

आपके अच्छे स्वास्थ्य एवं सफलता की कामना करता हूँ। आपके सदैव उज्ज्वल भविष्य के लिए अल्लाह से दुआ करता हूँ।

मेरा नाम साजिद बशीर है, मैं पेशे से पत्रकार हूँ। 27 अगस्त, 1991 से ही केन्द्रीय कारागृह, जयपुर में असहाय क़ैदी के रूप में ज़िन्दगी गुज़ार रहा हूँ। कानून के द्वारा पक्षपाती रवैया अपनाने के बाद अब नि:संकोच मैं यह कह सकता हूँ कि पाकिस्तानी

नागरिक होने की वजह से हमारे साथ ऐसा व्यवहार हो रहा है। सीमा पार के अनेकों ऐसे क़ैदी यहाँ बन्द हैं जो भारतीय कानून के तहत अपनी सजा पूरी कर चुके हैं, फिर भी स्वदेश वापसी सम्भव नहीं हो पा रही है।

यह सच है कि कुछ असामाजिक तत्त्वों की वजह से आपसी देशों के बीच कभी भी अनुकूल वातावरण नहीं रहा और इससे आम नागरिक सदैव प्रभावित होते रहे हैं। हमने कभी सोचा नहीं था कि हमारी एक भूल हमारे इन्सानी अस्तित्व के लिए खतरा बन जाएगी। ऐसे अनेक क़ैदी हैं जो आधी से ज़्यादा ज़िन्दगी यहाँ के जेलों में गुज़ार चुके हैं और अभी भी जीवित हैं, तो सिर्फ उम्मीद के सहारे।

इस सन्दर्भ में उच्चतम न्यायालय के निर्देश को भी नज़रअन्दाज़ किया जा रहा है। आखिर ऐसी कौन सी बाधा है जो हमारी वतन वापसी में बाधक है। क्या ऐसा व्यवहार अमानवीय नहीं है? इस समस्या का समाधान कैसे हो? ऐसे अनेको सवाल हमारे जेहन में हैं। इतने वर्षों के पश्चात् भी दोनों देशों का नेतृत्व इसका समाधान मानवीय आधार पर नहीं करके लेन-देन की प्रक्रिया कर करना चाहते हैं, जो सर्वथा अनुचित है।

इस स्थिति में आप जैसे लोगों की सख़्त आवश्यकता है। आपकी संलग्नता से ही इस समस्या का स्थाई समाधान सम्भव हो सकेगा।

उच्चतम न्यायालय के हस्तक्षेप के बाद वैकल्पिक रूप से कुछ क़ैदियों को स्वदेश भेजने के बजाए जयपुर केन्द्रीय कारागृह से अलवर कैम्प जेल में स्थानान्तरित कर दिया गया है। जबकि कानूनी रूप से हम सभी अपनी सजा पूरी कर चुके हैं। आखिर इस अन्यायपूर्ण व्यवहार से हमें कैसे मुक्ति मिलेगी! सम्भवत यह आप लोगों की ही मदद से ही सम्भव हो पाएगी।

अगर इस मामले को मानवाधिकार आयोग, एन. जी. ओ’ज एवं सामाजिक कार्यकर्ता गम्भीरता से लेते हैं तो निश्चित ही परिणाम सकारात्मक होंगे। इसमें आपकी भूमिका महत्वपूर्ण हो, इसकी मैं उम्मीद करता हूँ।

यह आपसी देशों के बीच मानव के अन्तहीन शोषण का मामला है। यह अन्तर्राष्ट्रीय संकट का रूप ले रही है। इसकी गम्भीरता देखते हुए इसे सर्वोच्च प्राथमिकता दें। प्रति फलस्वरूप इन्सानी ज़िन्दगी को तभी राहत मिलेगी। आप निश्चिन्त ही एक ऐसी छवि प्रस्तुत कर सकते हैं जो हमारे लिए सदैव अमिट हो।

इसके लिए हम आपके आभारी रहेंगे।

पत्रोतर के इन्तजार में—
दिनांक 3.3.04

आपका साजिद बशीर
वार्ड न. 6 केन्द्रीय कारागृह, जयपुर
राजस्थान

मैंने साजिद बशीर के पत्र का उत्तर दिया। वह उन तक बखैरियत और बिना काट-छाँट के

पहुँच गया। फिर इसके उत्तर में सारी जानकारियाँ देता हुआ, लगभग तेरह महीने के बाद उनका यह दूसरा पत्र मिला—

पत्र न. 2

साजिद बशीर
वार्ड न. 6 केन्द्रीय कारागृह, जयपुर
दिनांक : 30 अप्रैल, 2005

मोहतरम
श्रीमान कलेश्वर जी
नमस्कार

आपका पत्र पाकर मैं बहुत खुश हूँ लेकिन यह तैय करना मुश्किल है कि खुशी ज़्यादा है या हैरत! सबसे पहले आपकी सेहत व तन्दरुस्ती के लिए दुआ करता हूँ और उम्मीद करता हूँ कि अब आप पूरी तरह तन्दरुस्त हो चुके होंगे। मुझे आपका दिनांक 15.4.05 का लिखा हुआ पत्र आज पढ़ने को मिला। लगभग 13-14 माह पहले मैंने आपको एक खत लिखकर मदद के लिए निवेदन किया था। काफी लंबे और थका देने वाले इन्तजार के बाद आपका खत मिलने से मेरे लिए यह दिन बहुत खास बन गया है। आप अपनी बीमारी की वजह से या किसी तरह खत ना मिल पाने की वजह से अगर समय पर मुझे जवाब नहीं भी दे पाए तो भी हर्ज की कोई बात नहीं।

मुझे जेल में मिलने वाली डाक एक लम्बी (मगर अवैध) सैन्सर प्रक्रिया से गुजरने के बाद मिलती है। ऐसे में घर से आने वाला हर खत पहले गुप्तचर विभाग के पास जाँच के लिए जाता है जहाँ से एक माह बाद खत वापस आता है और अक्सर ऐसा होता है कि खत वापस ही नहीं आता। मुझे हैरत इस बात की है कि 15 दिन के अन्दर आपका खत सारी प्रक्रिया से गुजरकर इतनी जल्दी कैसे मुझसे पढ़ने को लिया गया।

सबसे पहले तो मेरी तमन्ना है कि आप पूरी तरह तन्दरुस्त हो जाएँ। मैं पिछले 13-14 साल से जयपुर जेल में बन्द हूँ। मेरे साथ यहाँ पर 17 अन्य पाकिस्तानी कैदी भी बन्द हैं, जिनमें से मुझ समेत चार लोग अपनी सजाएँ पूरी कर चुके हैं और अब वतन वापसी के इन्तजार में केवल इसलिए जेल में सड़ रहे हैं क्योंकि इसके लिए गृह मन्त्रालय नई दिल्ली द्वारा उन्हें स्वदेश भेजने के आदेश जारी नहीं किए गए। सबसे पहले मैं एक पाकिस्तानी क़ैदी मोहम्मद सादिक का जिकर करना चाहूँगा जो पिछले 27 सालों से जेल में बन्द है। मो. सादिक 31 मई, 1978 को गिरफ्तार किया गया था। जेसलमेर के सैशन जज ने उन्हें मुकदमा न. 28/78 में, अन्तर्गत धारा 302 I P C दिनांक 29.9.1978 की आजीवन कारावास की सजा से दण्डित किया था। आम स्थानीय कैदी आजीवन कारावास की सजा भुगत कर 12 से 14 साल में रिहा कर दिए जाते हैं मगर मो. सादिक की बदकिस्मती यह है कि वह पाकिस्तानी नागरिक है। केवल इसीलिए 27 साल गुजर जाने के बाद भी राजस्थान सरकार उसे छोड़ने पर विचार करने पर तैयार नहीं है।

मुझे बी. एस. एफ. ने दिनांक 16.8.1991 को जेसलमेर भारत-पाक सीमा पर

रेगिस्तान में रास्ता भूल कर भारत के अन्दर आ जाने के जुर्म में गिरफ्तार किया था। कई दिनों की जाँच के बाद दिनांक 20.8.1991 को मुझे आधिकारिक तौर पर गिरफ्तार कर पाक जासूस होने के शक का मुकदमा दर्ज कर दिया गया। दस साल बाद मुकदमा का फैसला हुआ और मुझे 12 साल की सजा दी गई, जो दिनांक 20.9.2003 को पूरी होने पर मुझे जेल से रिहा कर स्थानीय पुलिस के हवाले कर दिया गया। स्थानीय पुलिस ने मुझे गिरफ्तार कर एस. डी. एम. से छः माह के लिए जेल भिजवाए जाने के आदेश प्राप्त कर उसी शाम वापस जेल दाखिल कर दिया। इसी तरह हर छः महीने बाद रिहाई व गिरफ्तारी का ये खेल दो घण्टे में समाप्त हो जाता है और मेरे लिए फिर छः माह जेल में रहने के आदेश मिल जाते हैं।

आपने लिखा है कि अपने मुल्कों में आदमी की जिन्दगी का महज एक साल कोई कीमत या अहमियत नहीं रखता। आपने बिल्कुल ठीक कहा है। अभी पिछले दिनों मुझ Consular Access के लिए तिहाड़ जेल भिजवाया गया था जहाँ राजस्थान की बाकी जेलों से भी 36 पाकिस्तानी कैदियों को इसी मकसद के लिए लाया गया था। इनमें से 25 ऐसे कैदी थे जो पागलपन में भूलकर भारत में आ गए थे। इनमें से कोई भी अपना पूरा पता लिखवाने योग्य नहीं था। उनकी हालत इतनी खराब थी कि लिखते हुए भी शर्म आती है। इन लोगों के जुएँ पड़ी हुई थीं सालों से न नहाने की वजह से दुर्गंध आ रही थी। मैंने इनकी दुर्दशा देखकर पाकिस्तानी हाई कमीशन के अधिकारियों से बात की तो उन्होंने बताया कि भारत सरकार की ओर से ऐसे निर्देश दिए गए हैं जिनकी वजह से हाई कमीशन के अधिकारी किसी भी पाक कैदी की मदद या सहायता नहीं कर सकते। हालाँकि यह केवल मानवीय मसला था, भारत सरकार को खुद ही ऐसे पाक कैदियों की बिना भेदभाव के सहायता करनी चाहिए थी, ऐसे में अगर पाक उच्च आयोग किसी प्रकार की मदद के लिए सामने आये तो उसको प्रोत्साहित करना चाहिए। मानवीय मामलों में राजनीति करना शायद तीसरी दुनिया के नेताओं का खेल बन गया है इसमें जिन्दगियों की कोई कीमत नहीं रही।

मैं अपने व तीन अन्य पाक बन्दियों का विवरण नीचे दे रहा हूँ।

नाम	: साजिद बशीर
पता	: निजामपुर पुलिस स्टेशन, उस्मानिया मस्जिद के पास, भावलनगर, पाकिस्तान
वर्तमान पता	: घर न. ई 430/1 गली न. 1 पीर कालोनी, वालटन रोड, लाहौर, पाकिस्तान।
अरेस्टेड	: 20.8.1991
अण्डर सेक्सन	: ओफिसियल सीक्रेट्स एक्ट।
कोर्ट ऑफ	: दि सेशंस जज, जयपुर सिटी।
कनविक्शन	: 12 ईयर। रिग़रस इंप्रिजनमेण्ट
पुलिस स्टेशन	: नेचना, जैसलमेर।

सेसन केस न.   : 95 ऑफ 1995

(इतने ही सम्पूर्ण विवरणों के साथ साजिद बशीर ने तीन अन्य कैदियों की जानकारी दी, जो पूरी सजा काट चुकने के बावजूद रिहा नहीं किये गये थे। उनके नाम हैं-इमरान मलिक, मोहम्मद शरीफ और मोहम्मद सादिक! साजिद बशीर के पत्र का अलग अंश यह है, जिसमें बताया गया है कि पूरी सजा काट चुकने के बाद भी मोहम्मद सादिक के मामले का रिजल्ट क्या रहा है।)

रिजल्ट : यह (मोहम्मद सादिक) पिछले 27 साल से जेल में बन्द है। इन्हें एडवाइजरी बोर्ड ने 1998 में रिहा करने की सिफारिश की थी जिसे सरकार ने निरस्त कर दिया था। इनकी रिहाई राज्य सरकार के हाथ में है व पाकिस्तान भिजवाने के आदेश केन्द्रीय गृह मन्त्रालय, नई दिल्ली द्वारा जारी किए जाने पर यह दुखद स्वप्न समाप्त हो सकता है। यानी मो. सादिक की रिहाई और आजादी की मन्जिल अब भी उतनी ही मुश्किल है जितनी सदा से रही है।

मैं 15 मार्च 2005 को जब तिहाड़ जेल, नई दिल्ली में पाक उच्च आयोग, नई दिल्ली के अधिकारियों से मिला तो वहाँ भारत सरकार के तीन अधिकारी भी उपस्थित थे। मैंने उनसे भी मानवीय आधार पर इन सभी पाक बन्दियों की रिहाई की प्रार्थना की जो अपनी सजाएँ कई साल पूर्व पूरी कर स्वदेश वापसी का सपना देखते-देखते थक गए हैं। केवल राजस्थान में ही ऐसे 29 कैदी हैं जो अपनी सजाएँ पूरी करने के बाद गृह मन्त्रालय, नई दिल्ली के आदेश की अपेक्षा में जेलों में सड़ रहे हैं।

आपने अपने पत्र में डिटेल्स के लिए लिखा था वो मैंने लिखकर इस पत्र में ही शामिल कर दी है इसके इलावा मैंने अलवर ट्रांज़िट कैम्प में बन्द जिन पाक बन्दियों का हवाला अपने पिछले पत्र में दिया था वह माननीय उच्चतम न्यायालय के हस्तक्षेप के बाद 9 नवम्बर, 2004 को पाकिस्तान भिजवा दिए गए थे, अब उनमें केवल एक बन्दी इसलिए शेष बचा है, क्योंकि पाकिस्तान सरकार उसकी नागरिकता की पुष्टि नहीं कर सकी है। अब यह मसला पाक सरकार के जिम्मे हैं कि वह उक्त बन्दी मो. बाबर की नागरिकता की पुष्टि कर उसे वापस ले।

आपने अपने एक मित्र जो कि सीनियर पत्रकार हैं, का हवाला दिया है। अभी तक उन्होंने मुझसे सम्पर्क नहीं किया है। वैसे भी जेल अधिकारी इस बात पर खास ध्यान रखते हैं कि कोई पत्रकार हमारे सम्पर्क में न आ जाए। दरसल जेल अधिकारी इस बात से डरते हैं कि कहीं जेल में भ्रष्टाचार व स्थानीय कैदियों के साथ होने वाले व्यापक शोषण की खबर किसी पत्रकार के द्वारा उजागर ना कर दूँ। जेल में आम बन्दी जिन हालात में जी रहे हैं वो वास्तव में अमानवीय हैं। मैंने यह तय कर रखा है कि अपनी रिहाई के बाद इन बन्दियों की दुर्दशा हिन्दी मीडिया के जरिए जनता के सामने उजागर करूँगा जिसके लिए मुझे आपकी सहायता की जरूरत रहेगी। इसी मकसद के लिए मैं पिछले 4-5 साल से हिन्दी सीख रहा हूँ!

दुनिया में सत्य का साथ देने वाले या समर्थन करने वाले लोग हमेशा से कमजोर वर्ग के होते हैं, वे लोग अपने अधिकारों की रक्षा करने में विफल रहे होते हैं और ऐसे लोग जो ऐसे पिसे हुए लोगों के अधिकारों की रक्षा के लिए ताकतवर वर्ग व सरकारों से टक्कर लेने के

लिए सामने आते हैं वे ही महान् होते हैं। यूँ तो दुनिया में लाखों पत्रकार हैं लेकिन ऐसे लोग बहुत कम हैं जो पत्रकारिता को प्रोफेशन न मानते हुए एक सत्य धर्म का दर्जा देते हैं, और मेरी नजर में वे लोग बहुत महान हैं जिन्होंने पत्रकारिता के धर्मपथ पर चलते हुए अपना जीवन भ्रष्टाचार और अन्याय के खिलाफ संघर्ष में लगा दिया है। मैं उम्मीद रखूँगा कि आप व आपके अन्य मित्र पत्रकार न केवल भारतीय जेलों में बन्द पाक कैदियों बल्कि पाकिस्तानी जेलों में बन्द हिन्दुस्तानियों की तुरन्त रिहाई के लिए एक जुट होकर एक नया इतिहास रचेंगे।

आपके उत्तर का इन्तेजार करूँगा।

आपका आभारी
साजिद बशीर

इस लम्बे पत्र का मैंने उत्तर दिया।

मोहतरम भाई साजिद बशीर साहब,

आपका 30 अप्रैल, 2005 का ख़त मिला। बड़ी राहत मिली कि ख़त आप तक पहुँच सका। मैं तो पूरी जानकारी हासिल करके सकते में हूँ लेकिन अब कुछ करना तो है ही। मैंने भारतीय मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष को भी लिखा है और उच्चतम न्यायालय के अपने कुछ वकील दोस्तों से मशवरा भी माँगा है। मुझे उम्मीद है कि अब बातें सही जगह तक पहुंचेगी और हालात पर ग़ौर किया जाएगा! यह मैं लिख तो रहा हूँ पर मेरा मन भीतर ही भीतर घबराहट से भर रहा है, उन तमाम क़ैदियों के हालात के बारे में जो यह तकलीफें उठा रहे हैं और कानून उन्हें इंसानी नज़र से न तो देख पा रहा है, न इन्साफ़ दे पा रहा है!

मैं तो मोहम्मद सादिक के साथ हुई ज्यादती का हाल जानकर स्तब्ध हूँ! और उन पाकिस्तानी क़ैदियों के लिए मन उमड़ता है जो आपने तिहाड़ जेल में देखे थे और वे 25 लोग अपना पता तक नहीं लिख या बता सकते थे क्योंकि वे पता भूल चुके थे! नहीं तो व्यक्ति कुछ भी भूल जाए, अपना पता तो भूल ही नहीं सकता, वह भी घर का पता!

ऐसी अमानवीय स्थितियों को कोई भी मंजूर नहीं करेगा, यहाँ तक कि जेल के अधिकारी भी मंजूर नहीं करते, पर वे कानून के ढाँचे से बाहर नहीं जा सकते!

बहरहाल जो भी हो, मैं आप सबके मसले को, जैसे भी मुमकिन हो रहा है, उठा रहा हूँ। नतीजा निकलेगा, इसका विश्वास है!...सबको यथायोग्य दुआ सलाम। उम्मीदों के साथ —

आपका : कमलेश्वर

श्री साजिद
वशीर वार्ड नं. 6, केन्द्रीय कारागृह, जयपुर

इसके बाद, पत्र नं. 3

अपनी बात खुद कहता है। इसे भी पढ़ लीजिए।

21.7.2005

मोहतरम भाई
श्री कमलेश्वर साहब—

आपका 14.6.05 का लिखा पत्र मुझे जून के आखिर में मिल गया था, पढ़कर बहुत खुशी हुई, और राब्ता बनाए रखने का हौसला मिला। मैंने तुरन्त ही आपको खत लिखकर सूचना दे दी थी कि आपका खत मुझे मिल चुका है।

आपने मानव अधिकार आयोग के अध्यक्ष को पत्र लिखकर एक सराहनीय शुरुआत की है। हाँलांकि मेरी राय में यह एक असहाय संस्था है, जिसकी बात कम ही लोग सुनते हैं। हाँ, यह हो सकता है कि अगर आपके उक्त पत्र को मीडिया कवरेज मिल जाती तो शायद भारत सरकार इस मसले पर विचार करने पर मजबूर हो जाती। क्योंकि तीसरी दुनिया की सरकारें न तो किसी कानून में बँधी हुई हैं और न ही अपने किसी कर्तव्य के लिए किसी की जवाबदेह हैं। अगर इनको किसी बात से डर लगता है तो वह केवल मीडिया है।

आपने उच्चतम न्यायालय में कार्यवाई के लिए अपने मित्र वकीलों से राय माँगी थी, मुझे उम्मीद है ऐसा रास्ता खोज निकालने में वे हमारी सहायता करेंगे, जो हमारी रिहाई और स्वदेश वापसी में मददगार साबित होगा।

आपसे निवेदन है कि आप किसी गैर-सरकारी संस्था (N.G.O) से राब्ता कर उसे अपने साथ मिल कर काम करने के लिए प्रोत्साहित करें। अगर कोई N.G.O उच्चतम न्यायालय में P.I.L दायर कर इस मसले को उजागर करता है तो उस पर न्यायालय की कार्यवाई काफी तेज़ी से होगी, जिससे हमारी रिहाई जल्द सम्भव हो सकेगी।

मैं और मेरे साथी आपकी भावनाओं से बहुत मुतास्सिर हुए हैं, हमारे दर्द को जिस तरह आपने समझा और महसूस किया, इससे हमें कम से कम ये राहत तो मिली कि इस दुनिया में कोई तो ऐसा शख़्स है जिसके दिल में हमारी रिहाई और आज़ादी के लिए कुछ कर गुज़रने का जज़्बा मौजूद है और यही हमारा विश्वास है।

मेरे साथी मो. सादिक आपके बेहद शुक्रगुजार है और आपको दुआएँ दे रहे हैं। मेरा और मेरे सब साथियों की तरफ से आप और आपके दोस्तों-अज़ीज़ों को सत्राम।

आपका खैर-अन्देश

साजिद बशीर,
वार्ड, न. 6 केन्द्रीय कारागृह, जयपुर

श्रीमान कमलेश्वर जी
5/116, इरोज गार्डन, नई दिल्ली।

और अब आगे का घटनाक्रम

श्री साजिद बशीर के 30 अप्रैल, 2005 (पत्र नं. 2) की कई प्रतियाँ करवा कर मैंने कुछेक साहित्यकारों, साहित्यिक पत्रिकाओं के सम्पादकों को इस निवेदन के साथ भेजीं कि वे इस मसले पर चर्चा करें, पर वे सभी अपने साहित्यपीठों में बन्द और व्यस्त थे। कहीं से कोई प्रतिक्रिया नहीं मिली। साहित्यकर्मियों और अपने समकालीनों के अलावा मैंने खासतौर से यह जानकारी संविधान विशेषज्ञ, कानूनविद और अग्रज मित्र डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी को दी। उनका उत्तर तत्काल आया। मैं आश्वस्त था कि इस मामले में उनसे कानूनी और मानवीय राय अवश्य मिलेगी। भाई सिंघवी जी ने तत्काल मानवाधिकार आयोग को भी पत्र लिखा।

इसी के साथ मैंने जयपुर के दो पत्रकार मित्रों को पत्रों की प्रतिलिपियाँ भेजकर उनसे निवेदन किया कि वे सम्बन्धित पुलिस और जेल अधिकारियों से और केन्द्रीय कारागृह में बन्द साजिद बशीर व अन्य पाकिस्तानी क़ैदियों से मिलकर तथ्यों और असलियत जानने की कोशिश करें। उन्हें सफलता नहीं मिली।

इसी समय मैंने इस जरूरी पत्र (संख्या-2) की कॉपी अपने मित्र और 'दैनिक भास्कर के सम्पादक एन. के. सिंह को जयपुर भेजी। एन. के. सिंह ने 'पाकिस्तानी कैदियों वाला यह अहम मसला' अपने वरिष्ठ संवाददाता अवनीश जैन को सौंप दिया। अवनीश जैन ने 'इन बेवतनों को अपनाए कौन' शीर्षक से स्टोरी फाइल की। वह 14 अगस्त, 2005 को मुखपृष्ठ पर छपी। अखबार जेल में भी पहुँचा। और तब साजिद बशीर का यह खत आया!

पत्र नं. **4**

दिनांक : 19.8.2005

आदरणीय श्री कमलेश्वर जी,

दैनिक भास्कर (जयपुर) में दिनांक 14.8.2005 को मुख्य पृष्ठ पर श्री अवनीश जैन द्वारा "इन बेवतनों को अपनाए कौन" के शीर्षक से जो खबर प्रकाशित हुई थी उससे यह साफ लग रहा था कि आपने मेरे निवेदन को स्वीकार करते हुए, इस मामले का Mediatrial शुरू कर दिया है। मैं और मेरे साथी खास तौर पर मो. सादिक आपके बहुत अहसानमन्द हैं क्योंकि आपकी इन कोशिशों से यह मसला एक बार फिर जिन्दा हो गया है, जिसे दोनों देशों की सरकारों ने लगभग भुला ही दिया था। इस समय दोनों देशों की

सरकार भले ही इस मामले को गंभीरता से न ले रहीं हो मगर मुझे उम्मीद है कि अगर आपकी दुआएँ और कोशिशें हमारे साथ रहीं तो एक न एक दिन हमारी आज़ादी और स्वदेश वापसी का सपना ज़रूर साकार होगा। मैं श्री अवनीश जैन जी की शुक्रिया अदा करना चाहूँगा जिन्होंने हमारे मसले को इतने महत्वपूर्ण व ज़ोरदार ढंग से उजागर किया है। इस सिलसिले में जेल अधिकारियों द्वारा उनको जो सूचनाएँ उपलब्ध कराई गई थीं वे बिल्कुल गलत हैं, मैं आपको कुछ कागज़ात भेज रहा हूँ जो यह सिद्ध करने के लिए काफी हैं कि पाकिस्तान सरकार हमें अपने देश (पाकिस्तान) का नागरिक मानती है और हमें वापस लेने के लिए कोशिश भी करती रही है।

मैंने पाकिस्तान के मानव अधिकार आयोग को पत्र लिखकर पाकिस्तान में बन्द भारतीय कैदियों को मानवीय सुविधाएं उपलब्ध कराने व अपनी सजाएं पूरी कर चुके भारतीय बन्दियों की रिहाई व स्वदेश वापसी में अपना प्रभाव इस्तेमाल करने तथा मदद करने का निवेदन किया था, जिसका जवाब मुझे मिला है जिसकी नकल मैं आपको भिजवा रहा हूँ, इससे आपको मेरी कोशिशों को समझने में मदद मिलेगी। मैं इससे पहले भी पाकिस्तानी जेलों में बन्द भारतीय कैदियों के बारे में लिखता रहा हूँ, और मेरे वे लेख पाकिस्तानी दैनिक नवाए-वक्त' में प्रकाशित होते रहे हैं। मगर पाक सरकार पर उनका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा इसीलिए मैंने पाकिस्तान मानव अधिकार आयोग से सहायता माँगी थी। मुझे उम्मीद है कि इस सिलसिले में कुछ प्रगति ज़रूर होगी।

मुझे आपकी तरफ से 14.6.05 को लिखे खत के बाद अभी तक कोई पत्र नहीं मिला, मुझे ऐसा लगता है कि बाद में आपने जो पत्र लिखे होंगे वे (अनधिकृत) सेन्सर की भेंट-चढ़ गए हैं। आपने लिखा था कि आप उच्चतम न्यायालय के अपने वकील मित्रों से मशवरा माँगा था। मुझे आशा है कि आप इस सिलसिले में भी कुछ अहम फैसला ले चुके होंगे। अगर आपने वकील मित्रगण के सहयोग से उच्चतम न्यायालय में हमारी रिहाई के लिए P.I.L दायर कर दी है तो अब वो दिन ज़्यादा दूर नहीं, जब हम आपके सहयोग से एक नये जीवन की शुरुआत कर सकेंगे। मेरी राय में, आपने Media-trial शुरू करके इस मामले को इतने, असरदार ढंग से पेश किया है कि गैर-सरकारी संस्थाओं (NGOs) को हमारी मदद करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा और ऐसी कोई NGO ज़रूर सामने आएगी जो उच्चतम न्यायालय में P.I.L दायर कर हमारी मुश्किल आसान कर देगी। आप अगर उचित समझे तो मेरे भेजे हुए कागजात की नकलें श्री अवनीश जैन साहब को भिजवाकर, इस सिलसिले में जेल अधिकारियों द्वारा पैदा किए गए भ्रम को खत्म कर, सही सूरते हाल प्रकाशित करवायेंगे, तो बेहतर परिणाम सामने आने की उम्मीद है। वैसे आप सीनियर पत्रकार हैं, आप ज़्यादा बेहतर तरीके से सोच सकते है और बेहतर हल निकाल सकते हैं।

मुझे उम्मीद है कि आपका दृढ़ संकल्प बहुत जल्द रंग लाएगा और मानववादी हमें इस मुश्किल से निकालने के लिए ज़रूर सामने आएंगे। आप कल्पना कीजिए कि मो. सादिक 1978 में जब यहाँ पकड़ा गया था, तब उसकी शादी को केवल तीन वर्ष हुए थे और उसका बच्चा 14 माह का था। उसकी बीवी ने अपनी सारी जवानी एक विधवा की तरह गुज़ारी तथा उसके बच्चे ने अपना पूरा जीवन एक अनाथ की तरह गुज़ारा। याद रहे कि मो. सादिक को धारा 302 I.P.C में आजीवन कारावास की सजा दी गई थी। वह कभी भी

Offical Secrets Act का मुल्जिम नहीं रहा। इसके अलावा राजस्थान की जेलों में बन्द बाकी 29 पाकिस्तानी कैदी भी रास्ता भूल कर भारत में आने के मुजरिम हैं उनमें से किसी के भी खिलाफ Offical Secrets Act जैसा कोई गम्भीर मुकदमा नहीं लगा। मगर फिर भी वे लोग पिछले पाँच-सात वर्षों के अपनी स्वदेश वापसी की राह देख रहे हैं। उनमें अकसर तो पागल ही हो गये हैं।

मैं आपकी बेहतरीन स्वास्थ्य की कामना करता हूँ। आपके परिवार, मित्रों तथा सहयोगियों के लिए मेरी तरफ से ढेरों शुभ कामनाएँ पेश हैं, जिन्हें कुबूल फरमा कर मेरा मान बढ़ाएँ।

पत्र में भाषा व सभी प्रकार की गल्तियों के लिए माफी के साथ इजाज़त चाहूँगा।

आपका अहसान मन्द व शुभ चिन्तक
साजिद बशीर, वार्ड न. 6
केन्द्रीय कारागृह, जयपुर

अपने खत के साथ साजिद बशीर ने उन चार अहम खतों की कापियाँ भेजीं, जो यह साबित करती थीं कि पाकिस्तान सरकार उन चारों क़ैदियों को अपना नागरिक मंजूर करती थी, जो अपनी सजा काट चुकने के बावजूद, किन्हीं कारणों से रिहा नहीं किए गए थे। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण पत्र वह है जो 28 सितम्बर, 1993 में भारत-स्थिति पाकिस्तान हाई कमीशन के काउंसलर अटैची ने अपनी सरकार के पास इस्लामाबाद भेजा था और उसकी प्रतिलिपि भारत के विदेश विभाग के डिप्टी सेक्रेटरी वाई. के. सिन्हा को भी भेजी थी। शेष तीन पत्रों में भी वही मसला उठाया गया या स्पष्ट किया गया है। दूसरा सरकारी पत्र पाकिस्तान सरकार की मिनिस्ट्री ऑफ इंटीरियर का है। तीसरा पत्र पाकिस्तान सरकार के विदेश मन्त्रालय का है और चौथा पत्र पाकिस्तान के मानवाधिकार आयोग का है।

एक बात यहाँ दर्ज करना मुनासिब होगा। केन्द्रीय जेल जयपुर से मुझे साजिद बशीर के खत बग़ैर किसी काट-छाँट के मिलते रहे हैं। सिर्फ़ खत नहीं, उन महत्वपूर्ण दस्तावेजों की जेरोक्स कांपियाँ भी, जो मुझ तक पहुँची हैं। जेल में तो जेरोक्स की सुविधा होती नहीं! इसका मतलब है कि जयपुर केन्द्रीय जेल में इन कैदियों के प्रति हमदर्दी भरा माहौल ज़रूर रहा होगा! जबकि कुछेक पत्रकारों की यह जायज शिकायत है कि कोशिश करने के बावजूद किसी भी जरिए से उनकी पहुँच इन बदकिस्मत क़ैदियों तक नहीं हो सकी।

प्रिण्ट मीडिया के अलावा मेरा सम्पर्क 'आज तक' चैनल के एंकर, पत्रकार और मित्र पुण्य प्रसून वाजपेयी से लगातार बना हुआ था। वे इस मसले में लगातार रुचि ले रहे थे। मैंने उन्हें पूरी जानकारी दी। 'आज तक' की जयपुर टीम ने बहुत कोशिश की, पर उन्हें केन्द्रीय कारागृह, जयपुर के अधिकारियों से अपेक्षित सहयोग नहीं मिला। पर 'आज तक' की टीम

ने अलवर ट्रांजिट कैम्प में मौजूद एक और पाकिस्तानी क़ैदी मोहम्मद बाबर तक पहुँच सकने में सफलता प्राप्त की।

(‘आज तक’ चैनल ने मोहम्मद बाबर की खबर प्रसारित की और इस मामले को रविवार 11 सितम्बर को बड़ी जिम्मेदारी से उठाया। पुण्य प्रसून वाजपेयी का मुझे फोन मिला कि मैं ‘फोन इन’ के लिए तैयार रहूँ। फोन पर ही मैंने केन्द्रीय कारागृह, जयपुर में बन्द क़ैदियों की मानवीय त्रासदी की जानकारी दर्शकों तक पहुँचाने की कोशिश की। ‘आज तक’ और ‘दैनिक भास्कर’ की कोशिशें कारगर हुई। ‘आज तक’ के कवरेज की कॉपी वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों द्वारा तत्काल मँगवा कर देखी गई। यह भारत-पाकिस्तान के सुधरते सम्बन्धों का तकाजा भी था।

10 सितम्बर से लेकर 12 सितम्बर तक का सारा समय क़ैदियों की अदला-बदली की एक-एक खबर का पीछा करते बीता। बड़ी राहत मिली खबरों से। पर 12 सितम्बर के अखबार में ख़बर ने परेशानी बढ़ा दी। वह खबर यहाँ दे रहा हूँ :

सत्रह पाक क़ैदी रिहा

भास्कर न्यूज, जयपुर, 11 सितम्बर। प्रदेश की जेलों में बन्द 17 पाक क़ैदियों को रिहा कर वाघा बार्डर पर भेजा गया है। पाकिस्तान के साथ हुई बातचीत के बाद भारतीय जेलों में बन्द क़ैदियों को उनकी सजा पूरी होने पर छोड़ा गया है। प्रदेश के जेलों में बन्द 8 क़ैदियों को रविवार सुबह रिहा किया गया, जबकि 9 क़ैदियों को शुक्रवार देर रात छोड़ा गया। बाघा बार्डर से सोमवार को इनके सहित 152 क़ैदी भारत सौंपेगा और 371 क़ैदी पाकिस्तान।

सूत्रों ने बताया कि रविवार सुबह गंगानगर की जेल से 7 और अलवर के ट्रांजिट कैम्प से एक क़ैदी को रिहा किया गया। जयपुर स्थिति केन्द्रीय कारागार में 4 पाक क़ैदी बन्द थे, जिनमें से तीन को शुक्रवार देर रात छोड़ा गया। इनमें एक क़ैदी साजिद बशीर के मामले में पाकिस्तान सरकार पहले उनकी नागरिकता ही स्वीकार नहीं कर रही थी। लेकिन अब उसने बशीर के मूल निवास के भी कागज भिजवा दिए हैं। इससे इसकी भी रिहाई उम्मीद बना गई है। इनके अलावा शुक्रवार रात जैसलमेर जेल से भी छह पाक क़ैदियों को पुलिस के हवाले किया गया। बाद में 10 सितम्बर को उन्हें भी वाघा बॉर्डर के लिए रवाना किया गया। सूत्रों का कहना था कि इनकी रिहाई के बाद प्रदेश की जेलों में अब भी लगभग 20 पाक क़ैदी बन्द हैं। इनमें कुछ कैदी विचाराधीन हैं तो कुछ विभिन्न मामलों में सजा काट रहे हैं।

यूं सम्भव हुई रिहाई

भास्कर न्यूज। जयपुर 11 सितम्बर। राजस्थान की जेलों में बन्द पाकिस्तानी क़ैदियों की रिहाई का मामला सबसे पहले भास्कर ने उठाया था। उसके बाद ही पाकिस्तान सरकार ने

इन क़ैदियों की पहचान के दस्तावेज भारत को भेजे।

राजस्थान की जेलों में बन्द 17 पाकिस्तानी कैदी अब रिहा हो चुके हैं लेकिन इनकी रिहाई में खासी मुसीबतें आई। मुश्किलें भारत सरकार की तरफ से कम और पाक सरकार की ओर से ज्यादा थीं। पाक इन्हें अपना मानने की राजी ही नहीं था। भास्कर ने आखिर 14 अगस्त, 2005 को इस मामले को उठाया। भास्कर के लिए इस खबर तक पहुँचना भी खासा दिलचस्प और रोमांचक रहा। जेल में बन्द एक पाकिस्तानी क़ैदी ने सबसे पहले ख्यातनाम साहित्यकार कमलेश्वर को इस बारे में जानकारी दी। इसके बाद कमलेश्वर ने दैनिक भास्कर जयपुर के सम्पादक को इस बारे में एक पत्र लिखा। तब भास्कर ने इस पूरे मामले की पड़ताल की और इसमें लगभग एक माह का समय लगा। राज्य की जेलों में बन्द 17 क़ैदी अब तक रिहा हो चुके हैं लेकिन अब भी कोई एक दर्जन कैदी ऐसे हैं जिनकी रिहाई में कुछ न कुछ प्रशासनिक अड़गा है। इस मामले में राजस्थान सरकार या जेल विभाग या विदेश मन्त्रालय का कोई भी अधिकारी बात करने को तैयार ही नहीं था। काफी प्रयासों के बाद भास्कर ने जयपुर जेल के कुछ अधिकारियों का भरोसा जीता और जानकारियाँ जुटाई।

और इसके बाद 20.9.05 को तो दिल ही बैठ गया, जब 12.9.05 को उसी केन्द्रीय कारागार, जयपुर से लिखा हुआ, उन्हीं साजिद बशीर का यह पत्र मिला :

पत्र नं. 5

पत्र प्राप्त 20.9.2005
12.9.2005

आदरणीय श्री कमलेश्वर जी
5/116, इरोज गार्डन, सूरज कुण्ड रोड
दिल्ली-फरीदाबाद बॉर्डर, नई दिल्ली

आज 12 सितम्बर, 05 को भारत व पाकिस्तान के सद्भावना दिखाने के लिए एक दूसरे के क़ैदियों को रिहा किया है। आपकी मेहनत व सच्ची लगन के कारण मो. सादिक 28 वर्ष बाद पाकिस्तान की सरज़मीन पर कदम रख सकता है। उसके लिए व अन्य पाक बन्दियों के लिए यह एक नया जीवन है और खासतौर पर मो. सादिक जोकि अपने इस नये जीवन के सपने भूल चुका था, रिहाई पाकर इतना खुश हुआ होगा कि ज़िन्दगी की सब खुशियाँ एक बार में ही उसे मिल गई हों। यह सब आपके द्वारा सच्चे मन से की गई मदद से ही सम्भव हो सका।

मैं एक बार फिर बदकिस्मत ही रहा। रिहाई के चन्द मिनट पूर्व यह कहकर मेरी रिहाई रोक दी गई कि मेरे कागज़ात पाकिस्तान सरकार ने देरी से दिए हैं, इसलिए मेरी रिहाई नहीं होगी। इसमें सच्चाई क्या है, यह तो मुझे मालूम नहीं, मगर इस मौके के निकल जाने पर मुझे बहुत ज़्यादा सदमा हुआ जिसे मैं बयान नहीं कर सकता, बस यह कह सकता हूँ कि मेरे अन्दर सब कुछ टूट-सा गया है, शायद जीवन की आशा टूटने पर ऐसा ही होता

होगा। ऐसा लगता है मेरी रिहाई किसी Technical कमी से नहीं बल्कि राजनीतिक कारणों से रोक दी गई है। इस सिलसिले में मुझे अभी पहले से कहीं ज़्यादा आपकी मदद की आवश्यकता है। मीडिया ट्रायल ने जिस तरह इस मामले को (और भारतीय बन्दी सरबजीत सिंह) जनता के सामने पेश कर जो गति प्रदान की, उससे वर्षों से रुके हुए मामले को हल होने में केवल चन्द दिन लगे। मेरा निवेदन है कि आप अपने मित्र-पत्रकारों के ज़रिए मेरे मामले को अगर लगातार चन्द दिन तक कवरेज दें तो मेरी स्वदेश वापसी केवल चन्द दिनों की बात रह जाएगी। मुझे मालूम है कि मेरे मामले को सरबजीत सिंह जैसी कवरेज तो न मिल पाएगी, लेकिन अगर दैनिक भास्कर जैसे राष्ट्रीय अखबार में चन्द दिन तक यह मामला बना रहे तो हल ज़रूर निकलेगा। मेरी तरफ से आपके परिवार और मित्रगण को स्नेह व ढेरों शुभकामनाएँ कुबूल हों।

आपका आभारी
साजिद बशीर, वार्ड न. 6
केन्द्रीय कारागृह, जयपुर 302003

अब सिवा इसके और कोई चारा नहीं है कि सर्वोच्च अदालत में जनहित याचिका (पी. आई. एल.) दाखिल की जाए! यह मामला अब सिर्फ साजिद बशीर का नहीं रह गया है। पराये देशों की जेलों में बन्द अपने देश-वतन लौट सकने की उम्मीद लगाये उन सभी बदनसीब क़ैदियों का है जो आतंकवादी या उग्रपन्थी नहीं हैं। इन्हीं में भारत का सरबजीत भी शामिल हैं जो फाँसी की सजा सुनाए जाने के बाद से अब तक पाकिस्तान के कोट लखपत जेल में अपनी रिहाई की उम्मीद में साँसें ले रहा है!

यह सब चल ही रहा था कि 27.9.05 को शाम पाँच बजे लाहौर से एक फोन आया। हुआ यह था कि इस पक्की उम्मीद में कि अन्य क़ैदियों के साथ साजिद बशीर छूट ही जाएँगे और अपने घर पहुँच जायेंगे, मैंने उनके घर (लाहौर) के पते पर, उनके छूट कर पहुँचने का स्वागत करते हुए एक ख़त 12.9.05 के पहले ही पोस्ट कर दिया था, लेकिन वह तो पहुँच नहीं पाए थे। उनके घर मेरा ख़त ज़रूर पहुँच गया था। वह ख़त मिलने पर ही लाहौर से फोन आया था-'मैं लाहौर से साजिद बशीर का छोटा भाई बोल रहा हूँ। आपका ख़त तो मिल गया लेकिन भाई तो आये नहीं!'

अब मैं क्या करता? मेरे पास कोई जवाब नहीं था! घटनाक्रम मुझे पता था और वह स्वागत-पत्र लिखकर मैं पछता रहा था, यह सोचकर कि मेरी लाइनें पढ़कर घरवालों पर क्या बीती होगी। मैंने घर का सारा हाल मालूम किया। साजिद बशीर के भाई का नाम यासिर अरफात है। घर का पता वही, हाउस नं. ई. 430/1, स्ट्रीट नं. 1, पीर कालनी, वाल्टन रोड, लाहौर। यासिर अरफात लाहौर एयरपोर्ट पर एवियेशन विभाग में काम करते हैं। माता-पिताजी का देहान्त हो चुका है। घर में दो बहन हैं और बाल बच्चे। उनका टेलिफोन न. है : 0092-42-6667550 और मोबाइल नं. 0092-3334291636

मैंने उन्हें साजिद बशीर की रिहाई की उम्मीद दिलाई। अकस्मात् मेरी बात दिल्ली स्थिति स्वयं सेवी संस्था 'कॉम्बैट लॉ' के रंजीत वर्मा और वकील प्रेम किशन से हुई। प्रेम किशन जयपुर के ही हैं। मैं जब राजस्थान दैनिक भास्कर समूह का सम्पादक था, तब वे बरसों पहले मुझसे जयपुर में मिले भी थे। रंजीत वर्मा से भी मेरी मुलाकात दिल्ली में ही हो चुकी थी। वकील प्रेम किशन ने मामले को समझा और वे राजस्थान हाईकोर्ट जयपुर में रिट पिटीशन दायर करने के लिए जयपुर रवाना हो गए। इसी बीच 26.9.05 को मेरा आलेख 'साजिद बशीर के साथ अमानवीयता की हद' दैनिक भास्कर में छपा। पी. यू. सी. एल. जैसी स्वयं सेवी संस्था ने तत्काल उसे साक्ष्य बनाकर राजस्थान हाईकोर्ट में जनहित याचिका दायर की। यह सूचना मुझे अवनीश जैन ने दी। माननीय अदालत ने तत्काल उसका संज्ञान लिया और 30.9.05 को साजिद बशीर को अदालत में हाजिर किया गया। सुनवाई हुई। अदालत ने बड़ी मानवीयता से इस मसले को सुना-समझा और सरकार से जवाब तलब किया कि पूरी सजा काट चुकने के बावजूद बार-बार दफा 109 के अन्तर्गत सात बरसों तक क्यों साजिद बशीर को ज़बरदस्ती कैद में रखा गया! किन कारणों से उन्हें रिहा नहीं किया गया? दशहरे की लम्बी छुट्टियों के कारण अगली तारीख 18.10..05 पड़ी है। उस तारीख को जेल अधिकारी पुलिस और सरकार, अपना पक्ष रखेगी!

इस सुनवाई के तत्काल बाद, उसी दोपहर पी. यू. सी. एल. की कविता श्रीवास्तव और उसके सदस्य वकील अजय जैन से फोन पर बात हुई, उन्होंने बताया कि माननीय अदातल ने जिस तरह से इस घनघोर अमानवीय मामले का संज्ञान लिया है और जिन शब्दों में अपने विचार व्यक्त किए हैं, उससे लगता यही है कि 18.10.05 की जो तारीख पड़ी है, उससे पहले ही सरकार अब साजिद बशीर को रिहा करेगी और वे अपने घर लाहौर पहुँच जाएँगे!

30 सितम्बर, 05 को पुण्य प्रसून वाजपेयी का फोन मिला कि साजिद बशीर जब अदालत में लाए गए, तब 'आज तक' की टीम उनका इण्टरव्यू ले सकी है, वह देख लीजिए! और यह पहला मौका था कि जिन साजिद बशीर के ख़त मुझे मिलते रहे थे, उन्हें मैं टी.वी. चैनल में रू-ब-रू देख सका था। अब तो लगता है कि क़ैदियों का यह गंभीर मसला सुलझ ही जाएगा क्योंकि दोनों देश अपने आपसी सम्बन्धों को सुधारने के लिए उत्सुक हैं!

•••

और अब छपते-छपते यह खबर मिली है कि राजस्थान हाईकोर्ट ने साजिद बशीर को 21 नवम्बर, 2005 तक रिहा कर देने का निर्देश दिया है। उम्मीद यह भी की जा रही है कि उनके साथ ही वे 30 कैदी भी छोड़े जाएंगे, जो अपनी पूरी सजा काट चुके हैं!

•••

एक जगह जहाँ उस्तरे बनते हैं

भारत-पाकिस्तान के सुधरते सम्बन्धों में 12 सितम्बर, 2005 का दिन एक ऐतिहासिक दिन था। यह वह दिन था, जब बेवतन हुए उन कैदियों की अदला-बदली हुई जो अपनी सजाएँ काट चुकने के बावजूद अपने वतन नहीं पहुँच पा रहे रहे थे। पाकिस्तान ने भारत के 435 कैदियों को रिहा किया, जिनमें 371 मछुआरे थे और 64 अन्य भारतीय नागरिक। भारत ने भी 51 मछुआरों सहित 152 पाकिस्तानी कैदियों को रिहा किया। यह अदला-बदली वाघा बार्डर पर हुई। जाहिर है कि सरहद के दोनों ओर माहौल बहुत भावनात्मक था। सरकारी स्तर पर जो कुछ हुआ, उसकी पूरी जानकारी मिल चुकी है। उसे दोहराने का कोई लाभ नहीं, पर इस समस्या का एक मानवीय पक्ष है। खबरों में पाठकों ने पढ़ा और समाचार चैनलों में देखा भी होगा कि भारत ने जिन 153 पाकिस्तानी कैदियों को रिहा किया उनमें से 42 पाकिस्तानी कैदी या तो सुन नहीं सकते थे या बोल नहीं सकते थे। यानी 42 कैदी बहरे और गूँगे हो चुके थे। पाकिस्तान ने जिन भारतीय कैदियों को रिहा किया उनमें से कितने अपंग, बहरे या गूँगे हो गए थे, इसकी जानकारी उपलब्ध नहीं है। अपंग, गूंगे या बहरों को तो फिलहाल छोड़िए, दोनों देशों में जेल की लम्बी यातना काटते-काटते और जुल्म सहते-सहते कितने कैदी पागल हो गए, इसकी जानकारी कहीं से नहीं मिलती।

फिलहाल गनीमत यह है कि पाकिस्तान के राष्ट्रपति परवेज मुशर्रफ ने सरबजीत के मामले पर 'मानवीय नजरिए' से विचार करने की बात कही है। इसी सिलसिले में पाठकों को यह बताना आवश्यक हो गया है कि एक पाकिस्तानी कैदी, नाम साजिद बशीर, जो पेशे से पत्रकार हैं और जो शायद इस अदला-बदली में छोड़े गए हैं, इन पंक्तियों के लेखक को सेण्ट्रल जेल, वार्ड नं. 6, जयपुर से पत्र लिखते रहे हैं। नियमित पाठकों को याद होगा कि इन्हीं पाकिस्तानी कैदी साजिद बशीर का एक पत्र पहले भी इसी कॉलम में प्रकाशित किया गया था। वह उनका पहला पत्र था। उसके बाद समय-समय से उनके पत्र लगातार आते रहे और ताज्जुब की बात यह कि उनके पात्रों को जेल अधिकारी द्वारा कभी सेंसर नहीं किया गया। इसका सीधा-सा मतलब है कि जेल में उनका कोई ऐसा हमदर्द कारिंदा है, जो उनकी इन्सानी यातना को समझता था और उनके खत जेल में बाहर लाकर पोस्ट करने की मेहरबानी करता है।

साजिद बशीर को 20 अगस्त, 1991 में जैसलमेर में पकड़ा गया था। उन्हें बारह साल

की बामशक्कत कैद की सजा मिली थी। पूरी सजा काटने के बाद उन्हें 20 सितम्बर, 2003 को जेल से छोड़ा गया था, लेकिन उन्हें उसी दिन दफा 109 के तहत तत्काल पकड़कर फिर जेल में डाल दिया गया। यह केवल एक प्रामाणिक उदाहरण है। ऐसा ही सलूक उन अन्य तमाम कैदियों के साथ भी किया जा रहा था जो अपनी सजाओं की अवधि काट चुके थे, लेकिन अपने देश नहीं जा पा रहे थे। जाहिर है कि ऐसा ही या इसके बदतर सलूक उन हिन्दुस्तानी कैदियों के साथ किया गया होगा जो पाकिस्तानी जेलों में बन्द थे। वैसे अभी भी ऐसे सैकड़ों कैदी हैं जो दोनों देशों की जेलों में बन्द हैं।

जिस मानवीय पक्ष की बात हमने पहले की, उसका थोड़ा-सा हवाला हम साजिद बशीर के 30 अप्रैल, 2005 के खत के कुछ अंशों के सहारे से देना चाहेंगे। उनके पत्र का अंश है : ‘ सबसे पहले मैं एक पाकिस्तानी कैदी मोहम्मद सादिक का ज़िक्र करना चाहूँगा, जो पिछले 27 सालों से जेल में बन्द है। मोहम्मद सादिक को 31 मई, 1978 को गिरफ्तार किया गया था। जैसलमेर के सैशन जज ने उन्हें आजीवन कारावास की सजा से दण्डित किया था। आम स्थानीय कैदी आजीवन कारावास की सजा भुगत कर 12 से 14 साल में रिहा कर दिए जाते हैं, मगर मो. सादिक की बदकिस्मती यह है कि वो 27 बरसों से जेल में बन्द हैं, उनकी कहीं कोई सुनवाई नहीं है!’

गनीमत यह है कि कैदियों की अभी हुई अदला-बदली में मो. सादिक अपने वतन पाकिस्तान पहुँच गए हैं। हम साजिद बशीर के खतों के जो अंश दे रहे हैं वे मात्र इस मकसद से कि पाकिस्तान में कैद रहे या जो अब भी वहाँ की जेलों में बन्द हैं, खास तौर से सरबजीत जैसे हिन्दुस्तानी कैदी, उनके बारे में सोचा जा सके कि वे किस नरक से गुजरने के लिए अभिशप्त होंगे। समझने और जानने की बात यह है कि यह कैदी आतंकवादी या दहशतगर्द नहीं हैं। वैसे जो भी सरहद के इस पार या उस पार पकड़ा जाता है, वह खुद को बेगुनाह ही बताता है, और उनमें से बहुत से बेगुनाह होते भी हैं क्योंकि विभाजन ने सरहद के कुनबों तक को बँटवारे की त्रासदी में झोंक दिया है। यहाँ तक कि उनके घर का आँगन भारत में है पर चूल्हे और चक्की वाली कोठरी पाकिस्तान में! जो पकड़े जाते हैं उनमें से निश्चय ही कुछ जासूस भी होते हैं जो अपने-अपने देश की खुफिया एजेंसियों के एजेण्ट हैं, पर पकड़े जाने पर खुफ़िया एजेंसियाँ उन्हें अपना आदमी मानने से इनकार कर देती हैं। वे बेवतन हो जाते हैं...ऐसे में पहचान की बड़ी समस्या खड़ी हो जाती है, इस अमानवीय सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता लेकिन सरकारें तो सब धान बाईस पसेरी तौल देती हैं क्योंकि उनके कर्मचारियों और कानून के पास दिल या इंसानी दर्द नाम की कोई चीज नहीं होती। यह लम्बी और बड़ी नाजुक बहस है पर ज़रूरी यह भी है कि इसके इंसानी पक्ष को नजर-अन्दाज़ न किया जाए! अगर कोई पकड़ा गया आदमी जासूस भी है तो क्या वह इंसान नहीं होता?

अब साजिद बशीर के ही उसी पत्र का एक टुकड़ा : ‘यह सच है कि कुछ असामाजिक तत्त्वों की वजह से दोनों देशों के बीच कभी भी आपसी अनुकूल वातावरण नहीं रहा और इससे आम नागरिक हमेशा प्रभावित होते रहे हैं। हमने कभी सोचा नहीं था कि हमारी एक भूल हमारे इन्सानी अस्तित्व के लिए खतरा बन जाएगी। ऐसे अनेक कैदी हैं जो आधी से ज़्यादा ज़िन्दगी यहाँ की जेलों में काट चुके हैं और अभी भी जीवित हैं तो सिर्फ उम्मीद के

सहारे।...अभी पिछले दिनों मुझे 'काउंसलर एक्सेस' के लिए दिल्ली के तिहाड़ जेल भिजवाया गया था, जहाँ राजस्थान की बाकी जेलों में से 36 पाकिस्तानी कैदियों को इसी मकसद के लिए लाया गया था। इनमें से 25 ऐसे कैदी थे जो पागलपन में (सरहद का पता न होने के कारण) भूलकर भारत में आ गए थे। इनमें से कोई भी अपना पूरा पता लिखवाने योग्य नहीं था। उनकी हालत इतनी खराब थी कि लिखते हुए भी शर्म आती है। इन लोगों के जुएँ पड़ी हुई थीं, सालों से न नहाने की वजह से दुर्गंध आ रही थी। और इनकी दिमाग़ी हालत...क्या बयान करूँ!...हालाँकि यह मानवीय मसला था और मानवीय मामलों में राजनीति करना शायद तीसरी दुनिया के नेताओं का खेल बन गया है, इसमें ज़िन्दगियों की कोई कीमत नहीं रही।"

जाहिर कि गैर-मामूली यातनाओं और निपट मायूसी के माहौल में बरसों बरस कैद रहने वाले यह कैदी पागलपन और याददाश्त खोने की उस हद तक पहुँच गए हैं कि उन्हें अपने घरवालों के नाम और अपना पता तक याद नहीं! इससे बड़ी और भयानक मानव त्रासदी और क्या हो सकती है? यहीं पर जैनब और बूटा सिंह की एक सच्ची घटना और मंटों की कहानी 'टोबाटेक सिंह याद आती है। जब जैनब से पूछा गया—तुम्हारा नाम?

—जेनिब!

—गाँव?

—मणियार ढाणी!

—जात?

—हिन्दू राजपूत!

—धरम

—मुसलमानी!

और 'टोबाटेक सिंह' में, एक मुसलमान पागल जो बारह बरस से हर रोज़ 'ज़मींदार' पढ़ता था, उससे एक शख़्स ने पूछा कि मौलवी साहब, यह पाकिस्तान क्या होता है? तो उसने जबाव दिया कि हिन्दुस्तान में यह ऐसी खास जगह है जहाँ उस्तरे बनते हैं! यह जवाब सुनकर पूछने वाला सन्तुष्ट हो गया!

...लेकिन क्या इंसानी दु:ख-दर्द से रिश्ता रखने वाले उस पागल मौलवी के जवाब से कोई मानवीय अर्थ निकाल सकते हैं? यह सवाल उन्हीं लोगों की सोच और समझ से है!

पराए देश की जेलों में सड़ते लोगों की त्रासदी

'दैनिक भास्कर' ने राजनीति, व्यापार, आर्थिक आदि तमाम मसलों के साथ-साथ मानवीय सवालों को लगातार उठाया है, यही कारण है कि यह अखबार आम जनता का सिरमौर बना हुआ है। अभी भारत-पाकिस्तान के क़ैदियों की जो अदला-बदली हो सकी है, उसे सम्भव बनाने में भास्कर के मानवीय दृष्टि से पेश किए गए समाचारों और विश्लेषणों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। भास्कर ने जब मुखपृष्ठ पर 'इन बेवतनों को अपनाए कौन' शीर्षक से पाकिस्तानी क़ैदियों की कहानी छापी तो जयपुर जेल में बंद पाकिस्तानी क़ैदियों ने भी पढ़ी और उनकी ओर से, जेल के लिखे धन्यवाद के पत्र भी आए। सरकार के संबंधित महकमे भी सक्रिय हुए और अंततः पाकिस्तान की जेलों में बन्द 315 भारतीय मछुआरों सहित 64 अन्य भारतीय क़ैदियों को छोड़ा गया और भारत द्वारा 51 मछुआरों सहित 152 पाकिस्तानी क़ैदियों को रिहा किया गया।

यहाँ के अलवर जेल से छूटने वाले पाकिस्तानी क़ैदी मोहम्मद बाबर ने कहा कि 'क़ैद से रिहा होकर अपने वतन लौटने की मेरी खुशी दुगनी हो जाती अगर मेरे साथ-साथ सरबजीत भी पाकिस्तानी जेल से छूट के भारत लौट आता!' पाठकों को याद ही होगा कि भारतीय क़ैदी सरबजीत को वहाँ के सुप्रीम कोर्ट ने फाँसी की सजा सुनाई है और वह पाकिस्तान के उसी जेल कोट लखपत में क़ैद है जहाँ पाकिस्तान के पूर्व प्रधानमन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो को तत्कालीन राष्ट्रपति जिया-उल-हक के दौर में फाँसी दी गई थी। भारतीय क़ैदी सरबजीत को लेकर भारत की जनता की जनभावनाएँ बहुत आन्दोलित हैं और जब प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने अपनी मुलाकात के दौरान पाकिस्तानी राष्ट्रपति परवेज मुशर्रफ को न्यूयॉर्क में इन जनभावनाओं की जानकारी दी तो उन्होंने कहा कि सरबजीत के मामले पर 'मानवीय नजरिए' से विचार किया जाएगा। यह एक सार्थक पहल है जिसे प्रिएटमीडिया के अखबार दैनिक भास्कर और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के चैनल 'आज तक' ने सम्भव बनाया है। वाघा बार्डर पर हुई क़ैदियों की अदला-बदली में जो पाकिस्तानी कैदी अपने वतन लौट सकें हैं, उन्होंने भी भारतीय मीडिया की भूमिका की खुलकर तारीफ की है।

तो मानवीय नजरिए का सवाल मात्र एक-दो या दस लोगों की रिहाई तक सीमित नहीं है। यह एक बहुत बड़ा सवाल है क्योंकि भारत और पाकिस्तान में ही नहीं, तीसरी दुनिया के तमाम देशों में होने वाले अमानवीय अत्याचारों की सच्चाई दिल दहला देती है।

उन आम नागरिकों को फिलहाल छोड़ भी दिया जाए जो ग़लती से सरहद पार कर जाते और पकड़े जाते हैं, पर उन क़ैदियों पर क्या बीतती है जो दोनों देशों की खुफ़िया एजेंसियों द्वारा सरहद के आर-पार भेजे जाते और पकड़े जाते हैं। जाहिर है कि ऐसा प्रत्येक जासूस बेगुनाह होने की दलील देता है, और नैतिक नजरिए से देखा जाए तो वह बेगुनाह होता भी है, क्योंकि वह अपनी नौकरी के दायित्व को निभा रहा होता है। ऐसे लोग आतंकवादी या दहशतगर्द नहीं हैं। पराए देश में पकड़े जाने पर वे अपराधी घोषित कर दिए जाते हैं और यह कानूनी तौर पर सही भी है। पर इनकी मानवीय त्रासदी का भयानक पक्ष यह है कि किसी भी देश की खुफ़िया एजेंसी उन्हें अपना आदमी मानने से इनकार कर देती है। तब ऐसे कैदियों की सही नागरिकता का सवाल उठता है। और वे जेलों में जुल्म और भीषणतम बर्बरता के शिकार बनाए जाते हैं और दशकों तक बेवतन होकर पराए देश की जेलों में सड़ते रहते हैं!

अभी जो अदला-बदली हुई, उसमें भारत से छोड़े गए 42 ऐसे क़ैदी थे जो बहरे या गूँगे हो चुके हैं। अब ज़रा उनके बारे में सोचिए जो जेल की यातना और जुल्म सहते-सहते पागल हो चुके हैं! भारत से रिहा किए गए अपंग और गूंगों-बहरों की जानकारी तो फिर भी मिल जाती है पर पाकिस्तान से यह इन्सानी जानकारियाँ ज़्यादातर नहीं मिल पातीं। यहाँ पर किसी भी देश को मानवाधिकारों के हनन का कम या ज़्यादा ज़िम्मेदार बनाने का सवाल नहीं है पर दोनों देशों की जनता की आत्मा में उन बदनसीब क़ैदियों के लिए हमदर्दी पैदा करने और मनुष्य के औसत जीवित रह सकने के सहज से अधिकार के प्रति जागरूक बनाने का प्रयास ज़रूर है। यह काम हमारा प्रिण्टमीडिया बहुत पुरजोर तरीके से कर सकता है। इसका प्रमाण अभी-अभी मिल चुका है।

जानकार पाठकों को मालूम है कि भारत-पाक के कालजयी कथाकार सआदत हसन मंटो ने साहित्य में एक खानदान पैदा किया था, जिसे टोबाटेक सिंह के खानदान के नाम से जाना जाता है। यह उन पागलों का खानदान है जिन्हें नहीं मालूम कि भारत का विभाजन क्यों हुआ है, और वह न तो पाकिस्तान में रहना पसन्द करता है न भारत में। क्योंकि समझदार और ज़िम्मेदार लोगों द्वारा लिया गया विभाजन का फ़ैसला उस 'पागल' को रास नहीं आता। तो इस अदला-बदली में उसी टोबाटेक सिंह के खानदान का एक (पागल) क़ैदी दयारम छूट कर भारत आया है। पाकिस्तान में 40 वर्ष लम्बी कैद काटकर वह आया है। उसकी भयानक त्रासदी यह है कि वह जब पकड़ा गया तब करीब बीस साल का था, अच्छा-खासा तन्दुरुस्त आदमी था, पर अब साठ की उम्र पार करने के बाद न तो उसे अपना नाम याद है न अपने घर का अता-पता! इसका वही नाम मंजूर कर लिया गया है जो पाकिस्तानी अधिकारियों ने कागज़ पर दर्ज कर रखा था। वह अपने नाम का सत्यापन नहीं कर सकता। क्या दयाराम के जीवन की यह भयानक त्रासदी हमारी मानवीय आँखें खोल देने के लिए काफी नहीं है?

यह मात्र मानवाधिकार का मामला नहीं, मानव-जीवन की सुरक्षा और संरक्षण का मसला है। यह अंधे कानून की आँखों में उँगली डालने और सत्ताधिकारी अत्याचार को नेस्तनाबूद करने का मामला है। यह जनहित याचिका की गुहार नहीं, यह औसत रूप से नार्मल और जीवित रहने के प्राकृतिक अधिकार का मौलिक मामला है। जाहिर है कि इसे

हमारी हिन्दी और भारत के भाषाई अखबार ही उठा सकते और इसके लिए संघर्ष कर सकते हैं। अंग्रेजी अखबार कुलीन वर्ग के मसले उठाते हैं, उन्हें आम आदमी से कुछ लेना-देना नहीं है।

इधर जिन लगभग 800 क़ैदियों की अदला-बदली हुई है, उनमें से कोई भी क़ैदी बड़े घरवालों का बेटा, भाई या भतीजा नहीं है। वे सब गरीब घरों और परिवारों के लोग हैं। वाघा बार्डर पर अपने परिजनों को लेने जो लोग—घरवाले पहुँचे थे, वे या तो ट्रैक्टर या किराए की जीपें और गाड़ियाँ लेकर पहुँचे थे...और मुक्त हुए अपने परिजनों को लेकर वे दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, चेन्नई या बंगलौर नहीं, जालंधर पटियाला, करनाल, करहल, नीमच, लखीमपुर, गोहानी जैसे मामूली शहरों के निम्न मध्यवर्गीय अनाम मोहल्लों की ओर चले गए थे!

इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जीवनाधिकार के मानवीय मसले पर जनमत बनाने की शुरुआत अब कर देनी चाहिए।

साजिद बशीर के साथ अमानवीयता की हद

इसी 12 तारीख को वाघा बार्डर पर भारत-पाकिस्तान के क़ैदियों की अदला-बदली हुई। सरहद के इस पार और उस पार का माहौल बहुत भावनात्मक था। दोनों देशों ने क़ैदियों को छोड़कर सद्भावना दिखाई। मैं यहाँ सद्भावना का स्वागत करते हुए मानवीय न्याय का पक्ष और दोनों की नौकरशाही के बँधे हुए हाथों या उसकी कोताही भरी फैसलों की बात को सामने रख देना ज़रूरी समझता हूँ।

यहाँ 'भास्कर' की एक रिपोर्ट का हवाला देना ज़रूरी है। इसमें दर्ज है कि 'सूत्रों ने बताया कि रविवार सुबह (11.9.05) गंगानगर की जेल से 7 और अलवर ट्रांजित कैम्प से एक क़ैदी (मोहम्मद बाबर) को रिहा किया गया। जयपुर स्थित केन्द्रीय कारागार में 4 कैदी बन्द थे। (अपनी पूरी सजाएँ काट चुकने के बावजूद), जिनमें से तीन को (मोहम्मद सादिक, इमरान मलिक तथा मोहम्मद शरीफ) शुक्रवार देर रात छोड़ा गया। इनमें से एक क़ैदी साजिद बशीर के मामले में पाकिस्तानी सरकार पहले उसकी नागरिकता ही स्वीकार नहीं कर रही थी, लेकिन अब उसने साजिद बशीर के निवास के काग़ज़ भी भिजवा दिए हैं। इससे उसकी रिहाई की उम्मीद बन गई है!'

भारत-पाकिस्तान के क़ैदियों की अदला-बदली की यह 12 सितम्बर की तारीख एक ऐतिहासिक दिन था, और उम्मीद थी कि सारे वे क़ैदी जो अपनी सजाएँ काट चुके हैं, वे अपने वतन पहुँचे पाएँगे, यह हुआ भी पर केन्द्रीय कारागृह जयपुर में बन्द साजिद बशीर को नहीं छोड़ा गया। दलील यह थी कि पाकिस्तानी अधिकारियों ने पहले तो उसकी नागरिकता ही स्वीकार नहीं की, अब जब नागरिकता स्वीकार की तो उसके मूलनिवास के काग़ज़ भिजवाने में देर कर दी इसलिए भारतीय अधिकारियों ने उसे रिहा नहीं किया। यह उस पत्र से स्पष्ट है जो. साजिद बशीर ने उसी ऐतिहासिक दिन 12.9.05 को केन्द्रीय कारागार जयपुर से ही लिखा, जो हमें दिल्ली में 20.9.05 को प्राप्त हुआ। इसका हवाला अभी 'भास्कर' में छपी अवनीश जैन की रपट में मौजूद है और इस मानवीय मसले में जो दायित्व भास्कर सम्पादक एन. के. सिंह ने निभाया है वह एक नजीर के रूप में हम पत्रकारों के सामने है! यह मात्र देशों की आपसी राजनीतिक सद्भावना स्थापित करने का प्रसंग नहीं, यह मानवीय न्याय और इंसानी सद्भावना को बनाने और बनाए रखने का प्रकरण है जो लगातार राजनीति की मानव निरपेक्ष सोच और दृष्टि को प्रभावित कर सकता है।

ताज्जुब तो यह है कि जिस स्थाई पते और नागरिकता को पाकिस्तान के हुक्मरान वक्त रहते तय नहीं कर पाए और पाकिस्तानी पत्रकार क़ैदी साजिद बशीर को नहीं छोड़ा जा सका, उसके स्थाई और वर्तमान पते और नागरिकता की पुष्टि पूरी तरह से की जा सकती है और यह अब नहीं, आज से चार महीने पहले दिनांक 15.6.05 को कर दी गई थी, जब इन्हीं पंक्तियों के लेखक ने भारतीय मानवाधिकार आयोग और प्रख्यात संविधान विशेषज्ञ डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी से इन बदकिस्मत पाकिस्तानी क़ैदियों की रिहाई के लिए सक्रिय होने का निवेदन किया था। आश्चर्य तो यह है कि एक भारतीय लेखक-पत्रकार जो तथ्य चार महीने पहले पेश कर चुका है, वे ज़रूरी तथ्य पाकिस्तानी हुक्मरानों के पास क्यों नहीं थे?

उन तथ्यों को यहाँ सार्वजनिक रूप से अब दर्ज कर देना आवश्यक है। क़ैदी का नाम साजिद बशीर, पिता का नाम बशीर अहमद। स्थाई पता—निजामपुरा, पुलिस स्टेशन सिटी, निकट मस्जिद उस्मानिया, बहावलनगर, पाकिस्तान। और साजिद बशीर के इसी परिवार का वर्तमान पता है—हाउस नं. ई-430/1 स्ट्रीट नं. 1, पीर कॉलनी, वाल्टन रोड, लाहौर, पाकिस्तान।

पाकिस्तान सरकार और पाकिस्तान मानवाधिकार आयोग के कई पुराने और नए दस्तावेज मौजूद हैं जो पाकिस्तानी और भारतीय अधिकारियों के गैर इंसानी रवैए को उद्घाटित करते हैं और यह साबित करते हैं कि क़ैदी साजिद बशीर की नागरिकता को लेकर कोई ग़लतफहमी या संशय नहीं है। सारे दस्तावेजों को पेश करना तो यहाँ मुमकिन नहीं है पर एक दस्तावेज पेश है; पाकिस्तान सरकार का आज का नहीं, 25 नवम्बर, 1998 का सरकारी पत्र है :

गवर्नमेण्ट ऑफ पाकिस्तान मिनिस्ट्री ऑफ इंटीरियर एण्ड नारकोटिक्स कंट्रोल (इंटीरियर डिवीजन), इस्लामाबाद, तारीख 25 दिसम्बर, 1998 नं. 6/18/19-इण्डिया-1 विषय : रिहाई और श्री साजिद बशीर, सन ऑफ बशीर अहमद की स्वदेश वापसी (प्रत्यावर्तन)।

संक्षेप में, यह सरकारी पाकिस्तानी पत्र लिखता है कि उस पत्र का कृपया सन्दर्भ लीजिए जो 6.6.1998 को मोहतरमा मंजूरन खानम की अर्जी के साथ भेजा गया है, जिसमें पाकिस्तानी नागरिक श्री साजिद बशीर की रिहाई और स्वदेश वापसी दरख्वास्त की गई है। श्री साजिद बशीर के साथ ही उन पाकिस्तानी क़ैदियों का नाम और नागरिकता की तसदीक, पुष्टि और तहकीकात की जा चुकी है, जो रिहा किए जाने और स्वदेश वापसी की प्रक्रिया के तहत इसी दिसम्बर सन् 1998 में होने वाली क़ैदियों की अदला-बदली में पाकिस्तान पहुँचने के योग्य (हकदार) पाए गए हैं! जैसे ही इस मसले पर अन्तिम कदम उठाया जाएगा, उसी वक्त श्री साजिद बशीर की वापसी पाकिस्तान हो जाएगी!

पाकिस्तान सरकार यह पत्र सन् 1998 का है। अगर मात्र इसी पत्र का सन्दर्भ लिया जाए तो भी उनकी पहचान और नागरिकता को लेकर कोई शंका या सन्देह नहीं किया जा सकता! इसी सरकारी पत्र में उसकी नागरिकता पूरी तरह प्रमाणित है। और आज सात साल तक यह व्यक्ति, जो कि एक पत्रकार है, भारत के केन्द्रीय कारागार जयपुर में अपनी पूरी सजा काटकर चुकने के बावजूद बरसों बन्द रखा जाता है! यह तो सरकारी बर्बरता की

हद है! जिस व्यक्ति की नागरिकता की पुष्टि खुद पाकिस्तान के गृह मन्त्रालय द्वारा सन् 1998 में की जा चुकी है, सात साल बाद सन् 2005 में रिहाई के चन्द मिनट पूर्व उसकी रिहाई यह कहकर रद्द या स्थगित कर दी जाती है कि उसके काग़ज़ात पाकिस्तान सरकार ने देरी से दिए हैं! और यह तब, जब कि दिल्ली स्थिति पाकिस्तानी हाई कमीशन अपने उन क़ैदियों की रिहाई को लेकर भारत के विदेश और गृह मन्त्रालय से निरन्तर सम्पर्क में रहा है, जिनमें पत्रकार साजिद बशीर की रिहाई का मामला भी शामिल रहा है।

इस पूरे प्रसंग में जो सबसे तकलीफदेह बात है, वह यह कि क्या किसी जेल के अधिकारी या वहाँ की राज्य पुलिस यह फैसला ले सकती है कि किसे अभी छोड़ा जाए या किसी छोटी-सी खानापूरी की कमी का फायदा उठाकर इतना अहम फैसला ले सके कि वह किसी के जीवन-मरण का प्रश्न बन जाए! जाहिर है कि यह कानूनी या उच्च स्तरीय सरकारी फैसला नहीं है, साजिद बशीर को न छोड़ने का फैसला निश्चय ही स्थानीय है। और यह फैसला यदि उच्चस्तरीय है तो और भी गंभीर है।, इससे यही सन्देह पैदा होता है कि एक पत्रकार को न छोड़ने का यह फैसला उतना कानूनी या टेक्नीकल नहीं है, जितना कि राजनीतिक है! इस मानवीय मसले का यह सन्दर्भ यदि सही है तो यह गंभीर ही नहीं, खतरनाक भी है!

कमलेश्वर
(1932-2007)

शिक्षा : एम.ए. (हिन्दी), इलाहाबाद विश्वविद्यालय

साहित्य : 11 कहानी-संग्रह, 10 उपन्यास तथा अन्य 20 पुस्तकें–आलोचना, यात्रा-विवरण, आत्मकथात्मक संस्मरण आदि।

पत्रकारिता : नई कहानियाँ, सारिका, गंगा कथायात्रा (मासिक), इंगित, श्रीवर्षा (साप्ताहिक), दैनिक जागरण, दैनिक भास्कर (राजस्थान) समाचार-पत्र आदि का सम्पादन।

संचार माध्यम और साहित्य **:**

- भारतीय दूरदर्शन के प्रथम स्क्रिप्ट राइटर (1959)।
- भारतीय दूरदर्शन के एडीशनल डायरेक्टर जनरल (1980-82)
- 'अमानुष', 'सारा आकाश', 'फिर भी', 'उसके बाद', 'मि. नटवरलाल', 'दि बर्निंग ट्रेन', 'राम बलराम', 'मौसम', 'सौतन', 'आँधी', 'पति-पत्नी और वह' जैसी 99 हिन्दी फिल्मों का लेखन।
- वाचिक कार्यक्रम—आम आदमी के दुःख-सुख का प्रोग्राम 'परिक्रमा' जो सात वर्ष तक हर सप्ताह जारी रहा (यूनेस्को द्वारा दुनिया के 10 सर्वश्रेष्ठ कार्यक्रमों में रेखांकित), राष्ट्रीय और महत्त्वपूर्ण घटनाओं-व्यक्तियों से सम्बन्धित रनिंग कमेंट्री (पं नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, इंदिरा गांधी, राजीव गांधी और मदर टेरेसा की अन्तिम यात्राओं के सीधे प्रसारण के प्रमुख कमेंटेटर)
- रचित कार्यक्रम—भारतीय कथाओं पर आधारित पहला साहित्यिक सीरियल—'दर्पण'। इसके अलावा 'आकाशगंगा', 'रेत पर लिखे नाम', 'बिखरे पन्ने', 'विराट', 'बेताल पचीसी', 'युग' और 'चन्द्रकांता' जैसे सफलतम सीरियलों के लेखक